

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OU\_180141**

UNIVERSAL  
LIBRARY



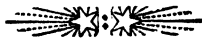






हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज

# सप्तर्षि-लोक ,



लेखक—

शोभाचन्द्र जोशी बी० ए०

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ४

प्रथमावृत्ति, दिसम्बर, १९५०

मुद्रक—

रघुनाथ दिपाजी देसाई,

न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,  
६ केलेवाड़ी, गिरगाँव बम्बई ४.

स्वर्गीया जननीको



## सप्तर्षि-लोक और उसका लेखक

“ भई जोशी, साहित्य-गोष्ठीकी चर्चा बहुत हो चुकी। अब उसका श्रीगणेश ही कर दो न ! ” — मैंने श्री शोभाचन्द्रजी जोशीसे कहा।

जोशीजीने कहा—“ यही तो मैं चाहता हूँ। तो फिर प्रथम गोष्ठी मेरे यहाँ ही रही। विषय क्या रहेगा ? ”

“ तुम्हारे यहाँ गोष्ठी हो, तो फिर विषय भी तुम्हारी ही रुचिका होना चाहिए—मैक्सिम गोर्की। ”

जोशीजी बहुत प्रसन्न हुए। गोर्की उनके आराध्य-देव रहे हैं; और, जितनी श्रद्धा वे गोर्कीमें रखते हैं उतनी अन्य किसी साहित्यिकमें नहीं। हमारी साहित्य-गोष्ठीकी पहली मीटिंग उन्हींके यहाँ हुई। आठ-दस व्यक्ति उपस्थित थे। इन पंक्तियोंके लेखकने Alexander Kohn के ग्रन्थके आधार पर गोर्कीके जीवन-चरितके विषयमें कुछ निवेदन किया। पता नहीं कि उस बात-चीतका अन्य श्रोताओंपर कुछ प्रभाव पड़ा या नहीं, पर उनमें एक श्रोता महोदय अवश्य ऐसे थे जिन्होंने पूर्ण तन्मयताके साथ हमारी प्रत्येक बात सुनी, और अन्तमें कहा—“ अपनी प्रिय पुस्तकोंको किसीको भी उधार न देनेका नियम अब आपको तोड़ना ही होगा। ” मैंने पूछा—क्यों ? जोशीजीने कहा—“ इस पुस्तकपर आपसे अधिक मेरा अधिकार है। मैं तो पहिलेसे ही गोर्कीका अनन्य भक्त था। और अब तो आप भी मुझे इस अधिकारसे बंचित नहीं कर सकते। आपकी यह पूँजीवादी मनोवृत्ति मुझपर नहीं चलेगी। ”

मज़बूत नियम तोड़ना पड़ा। जोशीजीने गोर्कीके जीवनचरितको पढ़ा—और खूब पढ़ा। यही नहीं, उसके बीसियों पृष्ठ टाइप भी कर डाले।

भगवानने गीतामें कहा है—“ यो यत्श्रद्धः स एव सः ” अर्थात्, जिसकी श्रद्धा जिस व्यक्तिमें है वह उसीका दूसरा रूप है। यह एक आकस्मिक घटना ही समझना चाहिए कि स्वयं जोशीजीका प्रारम्भिक जीवन ‘आवारागर्दी’में ही बीता है। और यदि ‘लक्ष्यहीन भ्रमण’ आवारागर्दीका लक्षण है तो

जोशीजी अबतक आबारा हैं। उन्होंने अभीतक अपने लक्ष्यके पथको प्राप्त नहीं किया। अब भी वे उन कठोर परिस्थितियोंसे संघर्ष कर रहे हैं, जो उन्हें अपनी आसाधारण क्रियात्मक कल्पनाशक्तिको फलने-फूलनेसे रोकती हैं।

जोशीजीको कहाँ-कहाँ भटकना पड़ा है, क्या-क्या करना पड़ा है, उसका वृत्तान्त सुन लीजिए। जोशीजीने सन् १९३३ में हाईस्कूल पास किया और उसके बाद ही उनकी आबारागर्दी प्रारम्भ हुई। वह एक वर्ष बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें आयुर्वेदकी शिक्षा पाते रहे। वह शिक्षा उनकी मनोवृत्तिके अनुकूल न थी। मैट्रिकोंकी चीर-फाड़ करनेके बजाय वह मौजूदा समाज, धर्म और मनुष्यके पाखण्डकी शल्य-क्रिया करना पसन्द करते थे। उनकी इस सुष्ठु प्रवृत्तिको साहित्यिक राजमार्ग बतानेके लिए उपयुक्त अवसर और निर्देशक अभी नहीं मिले थे। आयुर्वेदिक कालेजसे भाग कर जोशीजी लखनऊ पहुँचे। उनके पिताजीको इसका ज्ञान न था। लखनऊमें अनेकों परिचित रिश्तेदारोंके होनेपर भी वह एक होटलमें रहने लगे—लक्ष्यहीन, निश्चेष्ट। जेबमें जब तक पिताजीके दिए हुए पैसे थे तब तक होटल-मालिक उनके प्रति ऐसा स्नेह दिखाता रहा मानो वही मातृहीन, निर्वासित इस लड़केका अभिभावक हो। उ्यों ही पैसे समाप्त हुए कि एक दिन जोशीजीने अपना विस्तर और ट्रंक जव्त होते और उनके मूल्यसे होटलका भुगतान होते देखा। गर्मीके दिन थे। जोशीजी रातको चारबाग स्टेशनके लॉनपर या मुसाफिरखानेकी बेचोंपर सोते और दिनभर उस महानगरीकी सड़कें नापते फिरते। तीन दिन भूखे रहते बीत चुके थे। किन्तु किसी रिश्तेदारके घरमें अतिथि बन कर भुषा-निवृत्ति कर सकनेकी हिम्मत उन्हें नहीं हुई। जोशीजीमें यह Inferiority Complex ( क्षुद्रत्वकी भावना ) अब भी है। अभी तीनेक वर्ष पूर्व वह दो मित्रोंके साथ अल्मोड़ा गए। अपना ही घर होनेपर वह होटलमे ठहरे थे—पिताजीके घर नहीं।

लखनऊमें तीसरे दिन उन्हें किस प्रकार भोजन मिला और देहरादून तकका रेलका किराया—यह एक अत्यन्त रहस्यमय कहानी है। जोशीजीने हमें कुछ बताया है, कुछ नहीं। जितना हमने सुना उसीसे हमारे तो रोंगटे खड़े हो गए। जोशीजी अपने जीवनकी उस घटनाको पवित्रतम गुप्तमंत्रकी भाँति गुप्त ही रखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि उसीके बाद जीवनपर एक अडिग विश्वास,

एक अटूट श्रद्धा उन्हें मिल सकी। उसी दिनसे मृत्युका भय उन्हें मिथ्या लगने लगा। उसी दिन जोशीजीने प्रथम बार मनुष्यताके उस विराट् रूपके दर्शन किए जो मरकर भी नहीं मरता—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि; नैनं दहति पावकः;

न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।

अभिभावकके नाते हम तो जोशीजीको आशीर्वाद देते हैं कि जीवनकी उस घटनाका कभी वह स्वयं ही वर्णन कर सकें।

इसके उपरान्त जोशीजी देहरादूनमें एक साइकिल मचेंटके मुशी; सन-लाइफ इंड्योरेंस-कम्पनी कनाडाके एजेण्ट; और इंडियन मिलिटरी एकेडेमीमें टाइपिस्ट बने। तनख्वाह मिलनेके दिन चीफ क्लर्क, जो एक असभ्य गोरा था, उनपर रुष्ट हो गया और बलडीफूल, रास्कल इत्यादि विशेषणोंसे जोशीजीकी स्तुति करने लगा। नौकरी छोड़कर वह फिर लखनऊ पहुँचे। रिक्रूटिंग आफिसरने उन्हें डाक्टरीमें फेल कर दिया और वह पलटनमें भर्ती न हो सके। जोशीजीने तब एक निकटके रिश्तेदारसे, जो सम्बन्धमें उनके बड़े भाई लगते थे, दो सौ रुपया यह कहकर उधार लिये कि उनका मनी-बेग और सामान चोरी चला गया है! वह घर जा रहे हैं और जाते ही पिताजीसे कहकर रुपए भिजवा देंगे। पिताजीके शुभ-नामकी हुण्डी काम आ गई। उन दोसौ रुपयोंसे जोशीजी मेरठ पहुँचे। वहाँसे सहारनपुर, हरिद्वार, लैन्सडाउन, फिर वापिस मुरादाबाद, हरदोई, बाराबंकी, फिर लखनऊ, बनारस—

आज जोशीजी दुनियाकी नज़रोंमें सद्गृहस्थ बने हुए हैं। पत्नी है— बाल-बच्चे हैं। किन्तु आवारागर्दीकी लत नहीं छूटी है। वे वस्तुतः प्रच्छन्न 'परिव्राजक' हैं। पिछले बारह वर्षोंमें हम उन्हें टाइपिस्ट, स्टैनोग्राफर, अध्यापक, फिरसे बरेली कालेजमें विद्यार्थी, सन् १९४३ के आन्दोलनका— उन्हींके शब्दोंमें—उँगली कटाकर शहीद बननेवाला व्यक्ति, सूचना-विभागमें जर्नलिस्ट, अपर डिप्टीजन क्लर्क, मोटर मैनेजर और आजकल कलकटरीके आफिस सुपरिण्टेण्डेण्ट बनते देख चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि असन्तोष और विद्रोह उनमें कूट-कूट कर भर दिया गया है।

'सप्तर्षि-लोक' के प्रत्येक रेखा-चित्रमें, एक विद्रोहीकी आत्मा बोल रही है—एक ऐसे विद्रोहीकी जो मानव-समाजके बीचकी असमानताओंको दूर

करनेके लिए व्यग्र है, जो नारीको उसके कल्याणकारी रूपमें ही प्रतिष्ठित करनेके लिए उत्सुक है, जो कवियों तथा लेखकोंके कण्ठको उन्मुक्त रखनेका आकांक्षी है, जो अन्यायों, अनाचारों तथा अत्याचारोंका चाहे वे मदोन्मत्त शासकोंकी ओरसे हों, अथवा मूल्य जनसाधारणकी ओरसे, विरोध करनेके लिए तड़फड़ा रही है।

शक्तिशाली वर्गकी, चाहे वे ब्राह्मण हों अथवा क्षत्रिय, शोषण-नीतिकी बड़ी मर्यादतक आलोचना इन रेखा-चित्रोंमें देखनेको मिलती है। प्रत्येक स्कैचके पीछे एक भावना है। प्राचीन पात्रोंको नवीन रूपमें उपस्थित करनेका जो प्रयत्न किया गया है, उसके पीछे एक धारणा है, एक नीति है, एक विश्वास है। 'सप्तर्षि-लोक' के पाठक उक्त भावनाको भली भाँति समझ सकें, इसलिए उनका संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है,—

**सप्तर्षि-लोक** नामक रेखाचित्रकी मौलिक पृष्ठभूमि 'महाभारत' का अनुशासनपर्व है। सन् १९४८ जुलाईके महीनेमें जोशीजी अध्यापकी करना छोड़ सरकारके सूचना-विभागमें पत्रकार बन गए थे। प्रस्तुत रेखाचित्र इस परिवर्तनकी मानसिक प्रतिक्रिया है। लेखकने उन सभी बुद्धिजीवियोंपर करारी चोटें की हैं जो सरकारकी सेवामें अपना तन-मन अर्पण कर चुके हैं।

**यमकी परम्परा**के पूर्वार्द्धमें कठोपनिषद्की कहानी है, पर उत्तरार्द्ध लेखककी अपनी कल्पनाकी उपज है। लेखकके कहनेके मुताबिक उन्हें इस कहानीको लिखनेकी प्रेरणा श्रीचन्द्रकुंवर बर्वालकी इन पंक्तियोंसे मिली थी—

विवस्वानके सुपुत्र  
बन्धु यमी बहिनके  
पितरोंके प्रथम हे !  
मर कर के प्रथित किया  
तुमने इस विश्वमें  
मरनेका निबन्धन हे !

'मरनेका नियम' की जोशीने नितान्त नूतन व्याख्या की है।

**कुम्भकर्णकी** बात और **अश्वत्थामा** नामक दोनों स्कैच बिल्कुल आधुनिक भावनाओंसे ओतप्रोत हैं। लेखकने शक्तिशाली शब्दोंमें तथाकथित राष्ट्रवाद और उसके परिणामस्वरूप होनेवाले विश्वव्यापी युद्धोंकी तीव्र आलोचना की है।

**कर्मनासा** मानवजातिकी चिर-अंतृप्तिकी कहानी है। इसमें लेखकने ब्राह्मणोंपर चोट की है।

**अहंकारका जन्म** नामक कहानीका मूलस्रोत पंचतंत्रकी 'पूनर्मूषिको भव' नामक आख्यायिका है। लेखकने अपनी ही कल्पनासे यह सिद्ध किया है कि एक बार चूहेसे सिंह बन जानेपर वह फिरसे चूहा नहीं बन सकता। व्यक्तिके अहंकारकी सुन्दर आलोचना इस स्कैचमें बन पड़ी है।

**शिखण्डीकी आत्मकथा** और **पतनके मार्गपर**—ये दोनों प्रसिद्ध पौराणिक कहानियोंके रेखा-चित्र हैं। दोनोंमें लेखकने यह सिद्ध किया है कि संसारमें नारीत्व ही कल्याणका एकमात्र मार्ग है और पुरुषकी तुलनामें नारी श्रेष्ठ है।

**सूतपुत्र, जनताका शत्रु** और **एकलव्य** नामक रेखाचित्रोंमें लेखकका भाषापर असाधारण अधिकार देखनेको मिलता है। हमें तो ऐसा लगा कि इन रेखाचित्रोंमें जोशीजीने हृदयकी तमाम भावनाओं और विश्वासोंको उँडेलकर रख दिया है।

यद्यपि लेखकने प्राचीन पात्रोंका ही सहारा लिया है, तथापि उन्हें नए सँचेमें ढालनेका श्रेय उन्हींको मिलना चाहिए। क्या ही अच्छा हो यदि वे महा-भारतके अन्य पात्रोंके चरित्र-चित्रण अपने नवीन दृष्टिकोणसे कर दें। भगवान वेद व्यासकी अमर रचनाओंमें वह शक्ति विद्यमान है, जिससे नित-नूतन अर्थोंका प्रादुर्भाव हो सकता है। कई स्कैच तो इतने सुन्दर बन पड़े हैं कि उनके पढ़नेमें काव्य जैसा आनन्द आता है। भाषामें जबरदस्त प्रवाह है और पहाड़ी नदियोंकी तरह पाठकोंके पैर उखाड़नेकी ताकत भी। कोई भी व्यक्ति जिसके हृदयमें गम्भीर अनुभूतियाँ न हुई हों, ऐसी जानदार भाषा नहीं लिख सकता। लेखक द्वारा ब्राह्मणोंपर की गई चोटोंसे स्वयं हमारा तथा-कथित 'ब्राह्मणत्व' तिलमिला उठा। 'अश्वत्थामा' नामक रेखाचित्र तो इतना

सामयिक है कि साम्यवादी पार्टीकी ओरसे उसकी लाखों प्रतियाँ छपवाकर जनतामें बाँटी जानी चाहिए। 'कुम्भकर्णकी बात' में भी युद्धके विरोधमें खासा अच्छा प्रचार है। सौभाग्यकी बात यही है कि लेखक महोदयका किसी पार्टी-विशेषसे कोई सम्बन्ध नहीं, और जो कुछ उन्होंने लिखा है उसमें उन भावनाओंका ही चित्रण किया है, जो समयकी गतिकी प्रतिक्रियास्वरूप उनके साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक मनमें उत्पन्न हुई हैं।

'कर्मनासा', 'कुम्भकर्ण' तथा 'जनताके शत्रु' में ऐसे कितने ही वाक्य छिटके पड़े हैं जिनसे लेखककी मनोवृत्तिपर काफी प्रकाश पड़ता है। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ऐसे वर्गविहीन अराजक समाजमें विश्वास रखता है, जिसकी स्थापना प्रेम तथा पारस्परिक सहानुभूतिके आधार-पर की गई हो।

यदि हमसे पूछा जाय कि लेखककी आत्मा किन वाक्योंमें अपने सर्वोच्च स्तरसे बोली है तो हम 'जनताके शत्रु' नामक स्कैचके निम्न-लिखित अंश उद्धृत कर देंगे—

“राजद्रोह ! किसका राजद्रोह ? तुम्हारे इस गणतंत्रका ? मूर्ख सैनिक,— तुम तो मनुष्य हो। फिर तुम्हारा स्वामी कैसा ? तुमने तो क्रीड़ाके निमित्त एक खिलौना बनाया था उस गणतंत्रको। वही आज तुम्हारा देवता कैसे बन सका ? तुम्हारी स्वामिनी तो है मनुष्यता। उसकी पूजा करो। हजारों म्लेच्छ उसीके तो रूप हैं। उनकी नग्न छातियोंपर तुम्हारे गणतंत्रकी प्राचीरें बनी हैं। उन्हींके रक्तकण, उन्हींके स्वेदबिन्दु, तुम्हारी अट्टलिकाओंके रत्न बन गये हैं। इन्हींकी लज्जा तुम्हारी चीनोंशुक-परिधान बनी है। वे हैं तुम्हारे स्वामी, और उन्हींको तुमने ठगकर, रूलाकर अपना दास बना छोड़ा ! इससे बड़ा राजद्रोह और क्या हो सकता है ?

“जितना अन्याय मनुष्योंके समाजमें होता है, उतना चराचर सृष्टिमें कहीं नहीं होता। दूसरे प्राणियोंको देखो। कहीं भेद-भाव नहीं। दूसरेके प्राणोंके मूल्यपर स्वयं जीनेकी भावना कहीं भी नहीं। आवश्यकतासे अधिक भोजन, आवश्यकतासे अधिक स्थान कोई नहीं चाहता। उन वृक्षोंको देखो। सूर्यकी किरणोंका सब समान उपभोग करते, पृथ्वीसे सब समान रूपमें रस

खींचते हैं। उनमें कभी, कहीं, किसी गणतंत्रको स्थापना नहीं हुई। एक विशेष प्रकारके कुत्तोंने, अथवा विशेष प्रकारके घोड़ोंने यह कभी नहीं कहा कि उन्हें जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे दूसरे प्रकारके कुत्तों अथवा घोड़ोंको नहीं प्राप्त हो सकतीं। ये अनेकों प्रकारके राजतंत्र और वादविशेष मनुष्यके अन्तर्गत स्वार्थपूर्तिकी भावनाओंके अनुभाव-मात्र हैं। ये डाकुओंके दल हैं, जो निःशस्त्र निर्दोष व्यक्तियोंको लूटते हैं। इनमें सत्यता नाम-मात्रको भी नहीं।

“सत्य तो है मनुष्य ! सत्य है मनुष्यता ! प्रत्येक मनुष्य अपने-आपमें सर्वतोमुखी सम्पूर्णता लिए हुए है। उसे किसी भी शासन-तंत्रकी आवश्यकता नहीं है।”

इसे दैव-दुर्विपाक ही समझिए कि जो व्यक्ति इतनी बुलन्द आवाज़से शासन-तंत्रोंको ललकारनेकी शक्ति रखता है, उसे स्वयं उस तंत्रकी एक मशीनका छोटा-सा पुर्जा बननेके लिए बाध्य होना पड़ा है ! वह समाज-व्यवस्था ही निन्दनीय है, जिसमें प्रतिभाशाली सजीव व्यक्तियोंको अपनी इच्छाके प्रतिकूल, अपनी अन्तरात्माके विरोधमें, ऐसे निरर्थक कार्य करने पड़ते हैं, जिन्हें मामूली निर्जीव क्लार्क भी कर सकते हैं !

इन रेखा-चित्रोंको यद्यपि हमने अलग-अलग उसी समय पढ़ा था, जब वे पत्रोंमें प्रकाशित हो रहे थे; पर, उनके सामूहिक प्रभावकी हमने कल्पना भी नहीं की थी। ‘सप्तर्षि-लोक’में इस बार एक साथ पढ़ते हुए हमारी तबीयत फड़क उठी और, कई बार तो हम मंत्र-मुग्ध-से रह गए। अपने अँग्रेजी कुसंस्कार-वश पुस्तकके अनेक वाक्योंपर हमने Fine, very fine, very Eloquent, Splendid, इत्यादि शब्द लिख डाले, जिससे प्रकाशककी भेजी हुई प्रति ही खराब हो गई। सच बात तो यह है कि हम स्वयं इतने बढ़िया स्कैच कभी न लिख पाते। सबसे अधिक पसन्द आया हमें ‘सप्तर्षिलोक’ नामक रेखा-चित्र। उसके द्वारा उन्होंने ‘राज्याश्रित’ साम्य-वादियों, समाजवादियों तथा अराजकवादियोंपर वह करारी चोट की है कि वे उसे जन्मभर याद रखेंगे। वह स्कैच गद्यकाव्यका उत्कृष्ट नमूना है। उसमें पत्रकारोंके लिए एक अमर सन्देश है। ‘राज्याश्रित अराजकवादी’ पर व्यंग्य करके जोशीजीने चिरस्मरणीय गुरु-दक्षिणा दे दी है !

पर जहाँ हम जोशीजीकी लेखनशक्तिकी प्रशंसा करते हैं, उनकी इच्छाशक्ति (या उसके अभाव ?) की हमें आलोचना करनी ही पड़ेगी। जिस व्यक्तिमें माता सरस्वतीकी आराधना करनेकी यह असाधारण शक्ति हो, वह मोटर चलानेके व्यापारमें, या सरकारी मशीन चलानेके अव्यापारमें अपने समयको बर्बाद करे, तो अवश्य ही उसकी साधनामें कोई त्रुटि होनी चाहिए।

वास्तवमें यह आलोचना कठोर है, पर इसका हमें अधिकार है। यद्यपि हम जानते हैं कि महान-से-महान व्यक्तियोंको भी वनवास करना पड़ता है; तो हमारे और जोशीजी जैसे साधारण श्रेणीके व्यक्तियोंको यदि पराधीन बनना पड़े, तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं। स्वयं हम वर्षों तक 'मदखूलए गवर्मेन्ट' रह चुके हैं। फिर भी जोशीजीको डाँटने-फटकारनेके अधिकारसे हम अपनेको वंचित नहीं करना चाहते। 'सतर्पि-लोक' के पाठकोंको हम एक बात बतला दें। श्रीयुग जोशीजीके पिता पं० चन्द्रवल्लभजी शास्त्रीसे हमारा ३४-३५ वर्षसे सम्बन्ध रहा है। हम कभी दोनों इन्दौरके राजकुमार कालेजमें संस्कृत तथा हिन्दीके अध्यापक थे। शास्त्रीजीने एक बार हमसे कहा था, "यह लड़का तुम्हारे सुपुर्द है। तुम इसके अभिभावक हो। इसकी खोज-खबर रखना।"

पूज्य शास्त्रीजीका उनकी विद्वत्ता तथा धार्मिक वृत्तिके कारण हम जितना सम्मान करते हैं, अब भविष्यमें उससे कहीं अधिक सम्मान उनका इस लिए करेंगे कि वे तेजस्वी तथा विद्रोही शोभाचन्द्र जोशीके पिता हैं। साथ ही उनसे यह भी अनुरोध करेंगे कि वे अपने इस नटखट सुपुत्रको आशीर्वाद दें कि वह अपना सम्पूर्ण समय माता सरस्वतीकी सेवामें ही व्यतीत करे। अभिभावकके नाते हमारी सद्भावना तो अपने इस 'आवारा' बन्धुके साथ सदैव रहेगी ही।

कुण्डेश्वर,  
टीकनगढ़ (वि० प्र०)

—बनारसीदास चतुर्वेदी

## प्राक्कथन

कूर्माचलकी गोदमें अर्द्धसुपुष्टिके सुखमें खोया हुआ-सा एक छोटा-सा गाँव हैं—पोखरी। यह अल्मोड़ेसे चालीस मील उत्तर-पूर्वकी ओर है। वहा आजसे कोई पन्द्रह वर्ष पूर्व एक वृद्ध ब्राह्मण रहते थे। उनका शुभ नाम था—श्री बदरीदत्त जोशी। उस प्रकारके ‘सत-जुगी’ ब्राह्मण संसारमेंसे बड़ी तेज़ीसे उठते चले जा रहे हैं। संघर्ष, अश्रद्धा और अविश्वासके इस युगमें हम लोगोंको इस बातकी तनिक भी चिन्ता नहीं है कि ऐसे व्यक्तियोंके साथ हमारी मूल संस्कृतिका एक रंगीन भावनामय संसार भी तेज़ीसे लुप्त होता जा रहा है और ऐसा लगता है कि हम लोगोंकी कोई संस्कृति कदाचित् नहीं है। हम पुरानी संस्कृति और सभ्यताकी डींग हँकते हैं किन्तु क्रियात्मक रूपमें हमारे जीवनमें उसका चिह्न तक नहीं रह गया है। हम नई सभ्यता, नई संस्कृतिके नारे लगाते हैं, किन्तु यथार्थमें उसे हम अपने जीवनमें सन्निविष्ट नहीं कर सके हैं। हमारी दशा उस व्यक्तिकी-सी है जो दो घोड़ोंपर एक साथ सवारी करना चाहता है—और फलस्वरूप धूल खाता दिखाई देता है। सो, यह सन्देह और अविश्वासका युग है। संस्कृति और सभ्यता विश्वासकी नींवपर खड़ी को जाती है—चाहे वह पुरानी हो, अथवा नई।

जिब महानुभाव ब्राह्मणकी मैं बात कह रहा हूँ, वह थे मेरे पितामह। सन् १९३५ में उनका देहान्त हो गया। उस समय उनकी अवस्था ९६ वर्षकी थी। कोई रोग नहीं, कोई कारण नहीं। प्रातःकाल वह उठे, स्नान किया और सन्ध्या-पूजनसे निवृत्त होकर मकानसे लगे बगीचेमें गए। यह उनका नित्य कर्म था। ‘पृथ्वीपुत्र’ शब्दके पीछे जो एक यथार्थ भावना है वह उनपर चरितार्थ होती थी। कहा करते थे कि पृथ्वीका निरन्तर स्पर्श मनुष्यकी आयु बढ़ाता है। उनका विश्वास था कि नीरोग रहनेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। मुझे स्मरण है, एक बार उन्होंने कहा था कि चलने फिरनेवाले प्राणी भी एक प्रकारके वे वृक्ष हैं जिनकी अदृश्य जड़ें पृथ्वीमें फैली हुई हैं। उस समय मेरा बचपन था और पितामहकी प्रत्येक बातपर मैं विश्वास कर लिया करता

था । सोचा ये जड़ें अदृश्य स्वरकी होती होंगी जो प्राणीके चलते फिस्ते समय तनती-सिकुड़ती रहती होंगी ।

उस दिन पितामह बगीचेसे लौट कर आये और लेट गए । मैं उन दिनों घरपर नहीं था । सुना कि उन्होंने परिवारवालोंको बुलाया और कहा,—‘ अब मैं चलता हूँ । मेरी आयु समाप्त हो गई है । ’ उस समय घरमें किस प्रकारका वातावरण फैल गया होगा—मैं कभी कभी उसका अनुमान लगाया करता हूँ । लोगोंने पहले विश्वास न किया होगा । किन्तु जब पितामह एक बार कम्बल ओढ़कर लेटे और फिर कभी न उठ सके तो एक विस्मय, एक आतंक-मिश्रित-श्रद्धा, अपार श्रद्धा उस दिवंगत ब्राह्मणके प्रति लोगोंको हो गई होगी । वह जीवन और मरणका रहस्य जान गया था । जिस प्रकार रंगमंचसे अपना पार्ट अदा कर लेनेके बाद एक सफल अभिनेता कहता है—‘ भाई, चलूँ—थक गया हूँ । ’ वह अपने वास्तविक रूपको पहिचानता है । उसे रंगमंचसे किंचित् भी मोह नहीं है । जिस भूमिकामें उसने अभिनय किया था, उससे भी उसका कोई लगाव नहीं रह जाता । किन्तु लोग कई वर्षों तक उसके उसी रंगमंचवाले रूपको स्मरण करते हैं । उसकी वास्तविकताको कोई नहीं पहिचानता ।

इस घटनाके चार-पाँच वर्षके उपरान्त मैं पोखरी गया । घरके लोगोंसे मैंने पूछा कि मरते समय पितामहने मुझे स्मरण किया ?— लोगोंने कहा कि ‘ नहीं । ’ कई दिनों तक मैं उद्भ्रान्त-सा वहाँके खेतों, वहाँकी पहाड़ियों, नदियों, नालों-के आस-पास भटकता फिरा । इस एक उत्तरने मुझे झकझोर कर हिला दिया । मैं भाग्यहीन उत्पन्न हुआ हूँ । मुझे कभी किसीने प्यार नहीं किया । दो वर्षकी अवस्थामें जननी स्वर्ग सिधार गई । फिर पूरे दस वर्ष तक पितामह—अकेले पितामहके वृद्ध वक्षःस्थलसे लगकर मैं पनपा, बड़ा हुआ; और उसके उपरान्त फिर सदाके लिए निराधार इस स्नेहहीन संसारमें छोड़ दिया गया । जब मुझे ज्ञात हुआ कि उन्हीं पितामहने मरते समय मुझे स्मरण भी नहीं किया तो मेरे दुखकी सीमा नहीं रही । बहुत-बहुत दिनोंके उपरान्त मैं समझ सका कि ऐसा क्यों हुआ ।

पितामह वर्तमानसे नितान्त भिन्न सत्पुरुषके मनुष्य थे । मैं उस समाजका

एक सदस्य बन चुका हूँ जिसकी नींव नहीं है—कोई संस्कृति नहीं, कोई सभ्यता नहीं—जिसके विश्वासका कोई आश्रय नहीं है—जो समाज नास्तिक है; किसीके अस्तित्वपर विश्वास नहीं करता; ईश्वरपर नहीं, धर्मपर, धर्मशास्त्रोंपर, बड़े बूढ़ोंपर, मनुष्यपर, अपने-आपपर, किसीपर नहीं। परन्तु मुझे खेद नहीं कि मैं क्या हूँ—क्या बन गया हूँ। किन्तु पितामह यथार्थमें ब्राह्मण थे—धर्मनिष्ठ, ईश्वर-भक्त, सत्य-संध, आकाशसे सिर लगा कर चलनेवाले। दस वर्ष अपनी छातीसे लगाकर अपने प्राण उन्होंने मुझमें फूँक दिए थे। अपनी आस्था और विश्वासोंके अनुसार मुझे शिक्षा दी थी। वे महाभारतकी कहानियाँ मुझे सुनाते। तुलसीदासकी रामायण और इतर पद गा-गाकर मुझे थपकियाँ देते। कोई बड़ा-बूढ़ा घरमें आता तो केवल 'नमस्ते' करना ही नहीं, उसके चरण छूना, उसकी पदधूलि मस्तकसे लगाना, सिखाते थे। कहते—'बेटा, इससे तेरे जन्म-जन्मान्तरके पाप कट जाएँगे। स्वर्गके देवता तुझपर प्रसन्न होंगे—तुझे बड़ी आयु देंगे—धन, धान्य और समृद्धिका वरदान देंगे।' मुझे स्मरण होता है कि बचपनमें पितामहके दुलारके कारण मैं बड़ा हठी और झगड़ालू हो गया था। मातृहीन होनेके कारण सब लोग मुझपर दया करते और मेरे उत्पातोंको स्नेहसे सह लिया लिया करते। घरमें एकमात्र शिशु मैं ही था, या मेरी चचेरी बहन षष्ठी। कई बार ज़रा-सी बातपर मैं रूठ जाता तो रातको नौ-दस बजे तक रोता ही रहता। पितामह मुझे गोदमें लेकर कहानियाँ कहना प्रारम्भ कर देते। वह भगवान् रामचन्द्रकी बाल-लीलाका वर्णन करते।—कितने सुशील, कितने पितृ-भक्त, कितने धर्म-भीरु! 'बेटा, सब लड़कोंको रामकी भाँति बनना चाहिए। तू ज़रा-ज़रा-सी बातपर रूठने लगेगा तो रामचन्द्र-सा कैसे बनेगा?' फिर वह गीतावलीका एक पद गाने लगते—(पितामह अपने समयके अच्छे रामायणी माने जाते थे)।—

‘सुनि सीतापति सील सुभाउ;

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहरि खाउ।’

बारह वर्षकी आयु तक उन्होंने मुझे अमरकोषके साथ-ही-साथ रामायण और महाभारतकी कथाएँ आद्यन्त कंठाग्र करा दी थीं।

सन् १९३३ में जब हाईस्कूल पास करके मैं पोखरी गया तब उनके अन्तिम

दर्शन मुझे हुए थे। उनका स्वभाव था कि सायंकालीन संध्याके समय मुझे भी साथ बिठाया करते। उस दिन अभ्यासके अनुसार उन्होंने मुझे हाथ-पैर धोकर पूजाके कमरेमें चलनेको कहा। मैंने कमीज़ उतारा तो उन्होंने देखा कि मेरे गलेमें यज्ञोपवीत नहीं है। पता नहीं कितने महीनोंसे मैंने जनेऊ उतारकर कहीं डाल दिया था। वे गरज उठे—“क्यों रे, जनेऊ कहाँ है?” मैं उन्हींके दुलारसे ढीठ और हठधर्मी हो चुका था। बोला—“बड़बौजू, मैं जनेऊ-मनेऊ नहीं पहिनता। वह तो फालतू चीज है।”

और मैंने देखा कि वृद्धकी निष्प्रभ आँखोंमें आसुओंकी बाढ़ उमड़ पड़ी। उन्होंने कुछ नहीं कहा। मैं सयाना जो हो चुका था। उस रात और दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने भोजन नहीं किया। उस रात बहुत देर तक वे पूजाके कमरेमें बन्द होकर गुन गुनाते रहे। ‘पापोऽहं, पापकर्माऽहं, पापात्मा...’ ‘मो सम कौन कुटिल, खल, कामी।’ मैं बाहर विषण्ण मुख बैठा रहा। उनके मनकी गहरी वेदनाको समझ नहीं पाया। मैं उनके ज्येष्ठ-पुत्रका ज्येष्ठ पुत्र था। मेरे हाथों दिये गए पिण्डदानसे स्वर्गमें तृप्त होनेकी उन्हें आशा थी। इसीसे प्रेरित होकर अत्यन्त मनोयोग और बड़ी ही चिन्तासे उन्होंने मुझे बचपनमें शिक्षा दी थी।

तब मैं समझा कि मरते समय उन्होंने मुझे क्यों स्मरण नहीं किया! मैं उनके जीवनका दुःस्वप्न बन चुका था। वह अपना अन्तिम क्षण मेरी स्मृतिसे दुःखद नहीं बनाना चाहते थे। उनका ऐहिक कर्त्तव्य समाप्त हो चुका था। उस पार अनन्त जीवन और शाश्वत शान्ति और आनन्दका लोक था; जिसमें वह प्रवेश पाने जा रहे थे। उस समय मेरा स्मरण उन्हें अशान्त कर देता। उस घटनाने मेरे जीवनमें एक संघर्ष, एक मानसिक द्वंद्वको जन्म दे दिया है। मैं कभी पितामहका स्मरण करता हूँ, कभी अपने चारों ओरके संसारको देखता हूँ। दोनोंमें स्तीभर भी साम्य नहीं है। मैं वर्तमानमें जीवित रहना चाहता हूँ किन्तु पितामहके उस लोकको भी नहीं छोड़ना चाहता। मैं ईश्वरपर विश्वास नहीं करता, क्यों कि मेरे आसपासकी दुनियामें उसके लिए स्थान नहीं है और शायद आवश्यकता भी नहीं है। किन्तु पितामहके ईश्वरको अस्वीकार करनेका साहस मुझे नहीं होता। लगता है कि उनका ईश्वर और वह दोनों अविभाज्य थे। एकके लिए नास्ति कहना दूसरेको भी न

मानना है और यह मेरे लिए असम्भव है। जिन पौराणिक कथाओंको अशु-हासके बीच आन्दोलित होते हुए पितामह मुझे सुनाया करते थे, वे मेरे जीवनका अभिन्न अंग बन गई हैं। उन्हें मिथ्या किंवदन्तियाँ कहकर भूल जाऊँ, यह शक्ति मुझमें नहीं। किन्तु उन्हें स्वयंसिद्ध मान कर उनपर अन्ध-विश्वास कर बैठूँ, मेरा मन यह भी नहीं चाहता।

प्रस्तुत पुस्तकमें जो ग्यारह उत्प्रेक्षाएँ संकलित हैं उनमें मेरा यही मानसिक द्वन्द्व उभर आया है। इन पौराणिक कहानियोंको, उनका लोकसम्मत रूप बदल कर, अपनी भावनाओंके अनुसार परिवर्तित करके प्रस्तुत करनेके पीछे मेरा उद्देश्य यही है। कहानियाँ अधिकतर वही हैं, जिन्हें बचपनमें पितामह बार-बार मुझे सुनाया करते थे। कठोपनिषदका नचिकेताका उपाख्यान उन्हें अत्याधिक प्रिय था। इसी प्रकार सावित्री-सत्यवानकी कथा। इन दोनों कहानियोंमें मनुष्य मृत्युका साक्षात्कार करता है और उसपर विजय प्राप्त करता है। सच है अथवा झूठ, यह तो सिद्ध नहीं किया जा सकता, और इसे सिद्ध करना उतना महत्त्व नहीं रखता जितना इन कहानियोंकी रचनाके पीछे मनुष्यका आदिम मनोविज्ञान। मनुष्य मृत्युसे डरता है, किन्तु उससे भागकर बच नहीं सकता। तो वह मृत्युको जीतनेकी कल्पना करता है, अमृत और अमरताकी मानसिक सृष्टि करता है। वह मृत्युको अवश्यंभावी मानकर उससे प्रेम करना, उसे अपना आत्मीय बनाना चाहता है। वह यमराजको प्रथम-पितर कहता और छोटेसे बालक नचिकेताको उसके पास भेजता है। यमके द्वारा उसका सत्कार और ज्ञान-दान होना दिखाता है। मेरे बृद्ध पितामह नचिकेताकी कथा सुनाते समय मुझे छाती-से चिपटा लेते थे। मुझे उनके हृदयकी धड़कन स्पष्ट सुनाई देती और अपने हृदयके स्पन्दनमें विलीन होती प्रतीत होती। दानवीर कर्णकी कहानी वह मुझे सुनाते। बहुत दिनोंके बाद जब नितान्त निराश्रय होकर मैं दर दर भटकता हुआ, धक्के खाता हुआ फिर रहा था, जब संसारके किसी भी कोनेसे मुझे अपमानके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला—स्नेहकी एक भी बूँद नहीं, सहानुभूतिकी एक भी दृष्टि नहीं,

कृपाकी एक भी कोर नहीं, तो अत्यन्त दुख, आक्रोश और वेदनाके बीच मैं उस श्लोकका स्मरण करता, जिसे पितामह ओजस्वी स्वरमें मुझे सुनाते थे—

सूतो वा, सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाभ्यहम्;  
दैवायत्तं कुले जन्म, ममायत्तं तु पौरुषम् ।

तबसे 'सूतपुत्र' मेरा आदर्श बन गया—निराशामें मेरा बन्धु और दुखमें मेरा आत्मीय ।

पितामहकी कुछ कहानियोंसे मुझे विरोध है । एकलव्यको वह गुरु-भक्तिका आदर्श मानते थे । मैं उसे कोरा आदर्शवादी मानता हूँ । पंचतंत्रकी उस कहानीको मैं अप्राकृतिक और असम्भव मानता हूँ जिसमें एक चूहा सिंह बनता और फिरसे चूहा बन जाता है । मनुष्य चूहोंको शेर अवश्य बना ले किन्तु फिरसे उन्हें चूहा बनानेका सामर्थ्य उसमें नहीं है । कुम्भकर्णके प्रति मुझमें अपार श्रद्धा है । वह मुझे एक महान दार्शनिक, जीवनका एक सफल अध्येता प्रतीत होता है । वह शान्त प्रकृतिका व्यक्ति है और शान्तिप्रिय राजनीतिज्ञ है । सुषुप्तिशील होनेपर भी आश्चर्यजनक रूपसे जागरूक है ।

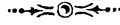
इन सभी कहानियोंका मूल स्रोत बचपनमें पितामहके द्वारा निर्मित मेरी चारों ओरकी परिस्थितियाँ हैं । और इस प्रकार पितामहकी पुण्य-स्मृति और अपने वर्तमानका चित्रण करनेके लिए ही उत्प्रेक्षा-मूलक इन कहानियोंका सृजन हुआ है ।

शोभाचन्द्र जोशी

टीकमगढ़ ( विन्ध्यप्रदेश )

१० अगस्त, १९५०

# कथा-सूची



|                         | पृ० स० |
|-------------------------|--------|
| १ सप्तर्षि-लोक...       | १      |
| २ यमकी परम्परा ...      | १६     |
| ३ कुम्भकर्णकी बात ...   | २८     |
| ४ कर्मनासा ...          | ४०     |
| ५ सुतपुत्र ...          | ५६     |
| ६ शिखण्डीकी आत्मकथा ... | ६७     |
| ७ अद्वैत्यामा ...       | ७९     |
| ८ अहंकारका जन्म ...     | ८५     |
| ९ जनताका शत्रु ...      | १००    |
| १० एकलव्य ...           | ११५    |
| ११ पतनके मार्गपर ...    | १२९    |





## सप्तर्षि-लोक

कुछ महीने पहले समाचारपत्रोंमें पढ़ा कि हिंदुस्तानकी सरकारको कई अदद साहित्य-सेवियोंकी आवश्यकता है। मतिभ्रष्ट होकर मैंने भी आवेदन-पत्र भेज दिया। कई दिनोंके उपरान्त सुना कि तीन नियुक्तियाँ होनी थीं, तीन हजार आवेदन-पत्र थे, और जिन्हें सरकारने चाहा, वे विज्ञापन प्रकाशित होनेसे पूर्व ही नियुक्त हो गए थे। उसी दिन सायंकाल श्मशान-वैराग्यमें डूबा हुआ मैं तालाबके बाँधपर लेट गया।

अंधेरा बढ़ चला। आकाशमें टोकरी-भर तारे छितरा गए। मैं टकटकी लगाए उन्हें देख रहा था। सामने एक बड़ा-सा नक्षत्र मृगशिरा झलमल कर रहा था। दाहिनी ओर सप्तर्षि थे—सात। एक अरुन्धती वसिष्ठके कंधेसे लगी हुई—आठ। मुझे तो कोई मोह नहीं। कोई लगाव नहीं। कैसी विरक्ति है ! नौकरी क्या नहीं मिली, मानो कोई मर गया हो। वहीं निश्चल पड़ा रहा। वायु रेशमी पंखोंपर उड़ रही थी। घना अन्ध-कार नीले परागकी भाँति चारों ओर बरस रहा था। रात्रिके आलिंगनमें एक विचित्र मूर्च्छा भींगी हुई थी। पलकों झपने लगीं। मैंने अपने-आपको बहने दिया।

तालाबकी ओर कई पैरोंका शब्द और लहरोंके चंचल होनेकी ध्वनि सुनाई दी। आँखें खोलकर देखा, तो चौंधिया गई। एक अत्युज्ज्वल अलौकिक प्रकाशसे पृथ्वी भर गई थी, मानो आकाशके समस्त नक्षत्र गलकर यहीं एकत्र हो गए हों। भय और विस्मयसे काँपते हुए मैं उठा

और उसी ओर खिंचा हुआ-सा चल दिया। पैरोंके नीचे ठोस स्पर्शका भी अनुभव नहीं हो रहा था, जैसे वायुकी तरंगोंपर संचरण कर रहा होऊँ। घाटपर जाकर मैं खड़ा हो गया। सामने वह दृश्य था, जिसे मनुष्यकी आँखें कभी नहीं देख पायँगी।

कमर-कमर तक पानीमें खड़े हुए आठ मनुष्य थे। उनमें एक स्त्री थी और सात पुरुष। ज्योतिके ढले हुए। सूर्यकी रश्मियोंसे आवृत्त। सबकी पीठ मेरी ओर थी और मुख पूर्वको। मस्तकोंपर हिमशुभ्र जटा-जूट बँधे हुए थे, मानो हिमालयकी सात चोटियाँ सूक्ष्म, चल-रूप धारण करके जलमग्न हो रही हों। मैं मंत्र-मुग्ध-सा घाटकी ऊपरी सीढ़ीपर खड़ा हो गया। पाँव न तो आगे बढ़ते थे, न पीछेकी ओर। सामने आकर्षक विस्मय था और पीछे ससन्ध्रम आतंक। समुद्रकी दो महातरंगोंके बीच पिसते हुए पाषाण-सा मैं वहीं गड़ गया। बार बार स्मरण होता कि यह स्वप्न है। यथार्थ चेतनामें ऐसे दृश्योंका होना संभव नहीं किन्तु स्वप्न कहीं टूट न जाय, यह भी आशंका होती। जो-कुछ मैं देख रहा था, उसे ही अनन्त काल तक देखते रहना चाहता था।

उसी समय आठों मूर्तियाँ हिलीं और मेरी ओर आने लगीं। इच्छा हुई, भाग जाऊँ। किन्तु पैरोंपर मानों पहाड़ रख दिया गया हो! वे एक पंक्तिमें मेरी ओर आ रहे थे। सबसे आगेवाला पुरुष मेरी ही ओर देख रहा था। उसके नेत्रोंकी ज्योत्स्ना मेरे चारों ओर छा गई। आतंकके मारे मैंने आँखें मूँद लीं। किन्तु पलकें मानो पारदर्शी काँचकी बनी हों! मैं फिर भी देखता ही रहा।

वह पुरुष निकट आकर खड़ा हो गया। आषाढ़की प्रथम मेघ-गर्जनाके समान मन्द्र-गम्भीर ध्वनिमें बोला—“डरो मत, वरस, हम तुम्हें हानि नहीं पहुँचायेंगे।”

स्मरण हुआ कि यह तो स्वप्न-मात्र है। साहस बढ़ा। आँखें खोली दीं। हृदयने कहा कि सामने जो पुरुष है, वह वन्दनीय है। मैं झुका और उसके चरणोंपर गिर पड़ा। दो बलवान् हाथोंने पकड़कर मुझे खड़ा कर दिया।

“ मैं प्रसन्न हूँ, वत्स, तुम्हारे अभीष्टकी पूर्ति करना चाहता हूँ—मौंगो। ”

स्वप्नकी अर्द्ध-चैतन्य अवस्थामें भी मुझे स्मरण हुआ कि देहलीमें ढाई सौ रुपएकी नौकरी नहीं मिल सकी। कदाचित् इस समय ये सुखसे सोए हुए डाइरेक्टर आफ पब्लिसिटी एण्ड इन्फारमेशनकी बुद्धि फेर दें ! उस ओर आँखें उठाई, तो लगा कि वहाँ ज्ञान और शक्तिका सागर उमड़ रहा है। उनसे कुछ भी याचना करना ठीक नहीं। समुद्रसे पानीकी एक बूँद भी माँगी नहीं जा सकती। जिस व्यक्तिमें देनेकी अनन्त क्षमता हो, उससे कुछ ले सकनेका सामर्थ्य भी साधारण नहीं होता। मैंने विनीत होकर कहा—“ भगवन्, मुझे कोई भी कामना नहीं है, केवल अपना पुण्य परिचय दें। ”

वे बोले—“ तथास्तु। हम लोग सामूहिक रूपमें सप्तर्षि कहे जाते हैं। मैं प्रजापतिका मानस-पुत्र वसिष्ठ हूँ। ये अत्रि हैं। ये विश्वामित्र हैं, जिन्होंने तपस्याकी शक्तिसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया। ये जमदग्नि हैं। परशुरामके रूपमें साक्षात् नारायणने इनका पुत्र बनकर अवतार लिया। ये कश्यप हैं, ये भरद्वाज और ये गौतम। वह अरुन्धती है, मेरी सहधर्मिणी। ”

मैंने हाथ जोड़कर कहा—“ भगवन्, आप लोगोंके दर्शन करके मैं और मेरे दोनों कुल पवित्र हो गए। संसारके मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तक तपस्या करके जिस पुण्यको प्राप्त नहीं कर सकते, मुझे अनायास

वही प्राप्त हो गया है। परंतु महाराज, एक शंका मनमें जाग उठी है। उसका निराकरण आप न करेंगे, तो मैं जीवन-भर अज्ञानके अन्धकारमें ही डूबा रहूँगा।”

“कौन सी शंका है तुम्हारी—सुनूँ ?”

“महर्षे, आप लोग तो स्वर्गके निवासी हैं। जन्म और मृत्युसे परे, अनन्त सौन्दर्यके प्रभु और चिरन्तन आनन्दके भोक्ता हैं। मन्दाकिनीकी तरंगोंमें स्नान और पारिजातके पुष्पोंसे सविताकी अर्चना करते हैं। इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि लोकपाल निरन्तर नतमस्तक होकर आपके अधरोपर कृपाकी एक स्मित-रेखा देखनेको लालायित रहते हैं। आज अपनी इस पृथ्वीपर आपको आया देख मेरे आश्चर्यकी सीमा नहीं है। भगवन्, दुःख, दारिद्र्य, अभाव और संघर्षसे सर्वदा संतप्त हम मनुष्योंके लोकमें आपके आगमनका क्या कारण है ?”

वे हँसकर बोले—“स्वर्गके निवासियोंके प्रति तुम्हारी यह संदिग्ध वितृष्णा स्वाभाविक है। किन्तु हम लोग दूसरे देवताओंकी भाँति स्वार्थी और आनन्द-लोलुप नहीं हैं। हम इसी पृथ्वीकी सन्तानें हैं। भरतके इसी महादेशमें हमारा जन्म हुआ था। पांचाल हमारी जन्मभूमि थी। सिन्धु, शतद्रु और विपाशाके तटोंपर हमारे तपोवन थे। हम संस्कृतिका निर्माण करते थे और साहित्यका सृजन। हमें वेदोंकी प्राप्ति हुई थी और ऋचाओंके रूपमें उन्हें बाँधकर संसारमें प्रचारित करना हमारा कर्तव्य था। आज कई युगोंके पश्चात् मातृभूमिके दर्शनोंकी इच्छा हुई थी। योग-बलसे हमने ज्ञान किया कि शताब्दियोंकी पराधीनतासे आज आर्यावर्त मुक्त हो गया है। हमने समझा कि इस देशका अतीत भविष्य बनकर लौट आया होगा। हम लोग कई दिनोंसे नाना रूपोंमें पृथ्वीपर भ्रमण कर रहे हैं। आज अपने लोकको लौट जायँगे।”

मैंने कहा—“ भगवन्, आपने अभी एक वर माँगनेको कहा था । मैं उस समयका इतिहास सुनना चाहता हूँ, जब आप आर्यावर्तमें निवास करते थे । ”

मेरी प्रार्थना सुनकर वसिष्ठ मुस्कराए और बोले—“ अच्छी बात है । तुम्हारी उक्तण्ठा है, तो सुनो । आओ, उस कदम्बके नीचे बैठें । अभी ब्राह्म-मुहूर्त है । घड़ी-भरके उपरान्त हम चले जायेंगे । ”

सब लोग बैठ चुके, तो वे बोले—“ मैंने तुम्हें अभी बताया था कि प्राचीन कालमें हम लोग साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्य किया करते थे । देशकी आत्माको अभिव्यक्ति प्रदान करना और ज्ञानका अमर आलोक विकीर्ण करना ही हमारा एकमात्र कर्त्तव्य था । कवि थे; वेदकी ऋचाओंमें हमारे प्राण आज भी गूँजा करते हैं । तपस्या करते थे, किन्तु उसके पीछे किसी स्वार्थका साधन हमारा लक्ष्य न था । स्वर्गकी और मोक्ष-प्राप्तिकी भी हमें कामना नहीं थी । समस्त प्राणियोंके दुःख, व्याधि, दारिद्र्य और उत्पीड़नको दूर करनेके लिए हम यज्ञ करते और सविताकी अर्चनामें गायत्रीका पाठ करते थे । यज्ञोंसे पर्जन्य बरसता था । माता पृथ्वी प्रभूत शस्य उत्पन्न करती थी । खेतोंसे जब धान्य कट जाता, तो वहाँ पड़े हुए बीजोंसे पक्षियोंकी भाँति हम लोग अपना उदर-पोषण करते थे । किसीके आगे हाथ पसारना और दैन्य प्रकट करना सच्चे साहित्य-सेवीका धर्म नहीं है; क्योंकि उससे साहित्यका लक्ष्य दूषित होता है और कल्मषकी उत्पत्ति होने लगती है । इसी प्रकार कार्य करते हुए हमें सहस्रों वर्ष हो गए । । तब ऐसा समय आया कि हमारी प्रार्थनाएँ और आहुतियाँ व्यर्थ होने लगीं । संसारमें भीषण दुर्मिक्ष फैल गया ।

“ आर्यावर्तमें उस समय वृषादर्भि नामके राजा राज्य करते थे । दानवीर उशीनरका इतिहास तुमने पढ़ा ही होगा, शरणागत कपोतके

लिए जिन्होंने अपनी देह भी निष्क्रयमें दे दी थी। वृषादभि अपने पूर्वजके ही समान कीर्ति प्राप्त करना चाहते थे। उपयुक्त अवसरकी प्रतीक्षामें थे। उन्होंने चारों दिशाओंकी निधिसे अपना राज्य-कोष भर लिया। नियमानुसार विश्वजित् यज्ञ करके उम्र धनको ब्राह्मणोंमें नहीं बाँटा। राजाके कर्त्तव्यभ्रष्ट होनेके कारण वृष्टिका होना रुक गया। पृथ्वीने शस्य उत्पन्न करना छोड़ दिया। सूर्यदेवता अपनी किरणोंसे प्राणदान करना छोड़ अग्नि बरसाने लगे। केवल एक व्यक्तिके पापसे सनस्त आर्यावर्त्त भूखों मरने लगा।

“वृषादभिने सोचा, आ गया द्वितीय उशीनर बननेका समय। कोटि-कोटि मनुष्योंके प्राण हरनेवाला दुर्भिक्ष मूर्ख राजाकी अभीष्ट-पूर्तिका अवसर बना। कीर्तिकी प्यास धन-लोलुपतासे सौगुनी अधिक तीव्र होनी है। राजाने देश-भरमें घोषणा करा दी कि जितने भी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यकर्त्ता हैं, वे सब राज्याश्रय ग्रहण कर लें। दुर्भिक्षके समाप्त होने तक उन्हें उदर-पोषणके लिए वृत्तियाँ दी जायँगी। घोषणाके प्रचारित होते ही देश-भरका बुद्धिजीवी सम्प्रदाय राजप्रासादमें आकर एकत्रित होने लगा। जिस प्रकार मरे हुए बैलकी देहपर सहस्रों गीध बैठकर मांस नोच खाते हैं उसी प्रकार आर्यावर्त्तके असंख्य विद्वान् वृषादभि के पाप-संचित अन्नपर टूट पड़े। उनमें बहुतसे कवि और नाट्यकार थे। स्वप्नद्रष्टा, दार्शनिक और भावी समाजके निर्माता अर्थशास्त्री थे। बड़े-बड़े स्वतंत्र राजनीतिज्ञ भी थे, जो कभी जनतामें साम्यवाद, समाजवाद तथा अराजकवादका प्रचार करते थे, जो शासन-सत्ताके कट्टर विरोधी थे, जो वैयक्तिक स्वाधीनता और विचार-स्वातंत्र्यके प्रचारक थे। वे सब लोग क्षुधाकी ज्वालाओंमें अपनी विद्या, अपने सिद्धान्त, आत्म-सम्मान और लोक-कल्याणकी भावनाओंको जलाकर

राजसत्ताकी परिचर्या करने लगे । कवियोंने वृषादर्भिके यशोगीत गाए । दार्शनिकोंने जनना-जनार्दनको भूलकर राजाको ईश्वरका प्रतिनिधि बताया । देशके कोटिशः नर-कंकालोंको विस्मृतकर अर्थशास्त्रियोंने राज-स्वमें ही सार्वभौम सत्ताका प्रतिपादन किया । आर्यावर्त्तका मस्तिष्क उस दिन मर गया । यहाँकी सभ्यता और संस्कृति निष्प्राण हो गई ।

“वृषादर्भिका आमन्त्रण हमें भी मिला । हमारे धार्मिक कृत्य स्थगित हो चुके थे । अन्न तथा गोधनके अभावमें अग्निहोत्र इत्यादि दैनिक क्रियाएँ नहीं हो सकती थीं । हमारे शरीरोंमें रक्त नहीं बचा था । हम सूखी हड्डियोंपर मढ़े हुए चर्मके पुतलोंकी भाँति वनोंमें भ्रमण किया करते थे । वृक्षोंकी पत्तियाँ भी समाप्त हो गई थीं, जिन्हें खाकर हम प्राण-यात्रा करते । बरसों जल-वृष्टि न होनेके कारण कन्द-मूल इत्यादि सूखकर पत्थर बन गए थे । उन्हें खाया नहीं जा सकता था । अत्यन्त अशक्त होकर हम लोगोंने सविताकी अर्चना भी छोड़ दी । गायत्रीका उच्चारण भी नहीं करते थे । उसी समय वृषादर्भिकी घोषणा हमने सुनी । हमने उस आकर्षणको ठुकरा दिया ; क्योंकि राजप्राश्रय ग्रहण करना हमारे सिद्धांतोंके विरुद्ध था ।

“ किन्तु सत्ता बड़ी मादक और असहनशील होती है । देश-भरके बुद्धिजीवी वृषादर्भिके तलवे सहला रहे थे । केवल हम सात व्यक्तियोंको अपनी लपेटमें न आते देख उसकी अहम्भन्यताको भारी आघात लगा । कई मंत्रियोंको लेकर वह दूँढ़ता हुआ विपाशाके तटपर आ पहुँचा । हमारे पास क्या था, जिसे लेकर हम उसकी अभ्यर्थना करते ? कुशासन नहीं थे । अर्थके लिए एक बूँद जल भी विपाशामें नहीं बचा था । हमने जलती हुई, तृषार्त्त उस पृथ्वीपर ही उससे बैठनेको कहा । हमारे अस्थि-शेष शरीरोंकी ओर देखकर दिखावटी समवेदना और अन्तर्गूढ़ व्यंगसे मुस्कराता हुआ वृषादर्भि बोला—‘ हे महर्षियो, उशीनरका वंशज मैं

वृषादग्नि आप लोगोंको प्रणाम करता हूँ । कहिए, कुशल्से तो हैं ? अग्नि-होत्र आदिक दैनिक क्रियाएँ और धर्मकृत्य यथापूर्व चल तो रहे हैं न ? यज्ञादिके लिए कुश और समिधाएँ प्राप्त होती हैं न ? स्नानके लिए शीतल जल....?’

“ वह कह रहा था कि हमारे समुदायमेंसे विश्वामित्र अकस्मात् अट्टहास कर उठे । उनकी हँसीमें भीषण विद्रूप प्रतिध्वनित हो रहा था, मानो सहस्रों सूखी हड्डियाँ परस्पर टकरा गई हों । चीत्कार-सा करते हुए वे बोले—‘ बस, बस,—हो चुका, राजन् , व्यंगकी एक सीमा होती है । उशीनरके वंशज दोनों आँखोंके अन्धे हो जायँगे, यह तो हमने कभी सोचा न था । आपके प्रश्नोंका सम्यक् उत्तर क्या यह पृथ्वी नदी दे रही जिसपर आप बैठे हुए हैं, जो रोम-रोमसे असंख्य सर्पोंके फूत्कारके समान सन्तप्त साँसें छोड़ रही है, जिसपर खड़े असंख्य सूखे हुए ठूँठ मूर्तिमान हाहाकारकी भाँति आकाशकी ओर हाथ फैला रहे हैं ? क्या त्रिपाशाकी अग्निमयी बालुका-राशि आपकी शंकाओंका समाधान नहीं करती, जिसमें कभी वैदूर्य मणि-सी खच्छ नीली लहरियाँ खेद्य करती थीं, और जिसके दोनों तटोंपर गेहूँ और धानकी बालें झुक-झुककर जलमें अपना प्रतिबिम्ब देखती थीं, आज जिसकी सिकतापर संख्यातीत मछलियों और जल-जन्तुओंकी हड्डियाँ महामृत्युके अट्टहासकी भाँति बिखरी पड़ी हैं ? स्वयं आपका यह दुःसाहस क्या आपको चुनौती नहीं देता कि आप वसिष्ठ, अत्रि, भरद्वाज जैसे त्रिकालदर्शी सर्वशक्तिमान ब्राह्मणोंसे उपहास कर सकें और फिर भी सदेह पृथ्वीपर जीवित बने रहें ?—’

“ विश्वामित्रका क्रोध बढ़ता देख मैंने उन्हें रोक दिया; क्योंकि जिन्होंने एक बार नए ब्रह्माण्ड तककी रचना कर ली थी वे एक ही क्षणमें

रही-सही सृष्टि भी नष्ट कर सकते थे। वृषादर्भिसे मैंने कहा—‘ राजन्, आपकी शुभाकांक्षाओंके लिए धन्यवाद। हमारी क्रियाएँ बहुत दिनोंसे स्थगित हैं। प्रकृतिमें विकार उत्पन्न हो गया है, और हम लोग उसीकी अभिव्यक्ति-मात्र हैं।’

“ राजा हंतप्रभ हो गया था। ग्लानिमें डूबा हुआ-सा बोला—‘ भग-वन्, मैं तो राजधानीसे यहाँ तक इसीलिए आया हूँ कि इस कष्टके समय आपको कुछ दान दूँ। मेरे पास प्रभूत धन-धान्य है। एक-एक घड़े-भर दूध देनेवाली सहस्रों गौवें हैं। मैं वह सब देता हूँ। आप यथापूर्व अपने कार्य आरम्भ कीजिए।’ ”

“ मैंने कहा—‘ नहीं महाराज, हम लोग किसी प्रकारका दान ग्रहण नहीं करेंगे। राजाओंका प्रतिग्रह मधुके समान स्वादु तो है, किन्तु परिणाममें विषके समान संहारकारी हुआ करता है। हमें प्रजापतिने ब्राह्मण-देह-रूपी जो क्षेत्र दिया है, वह इसीलिए कि हम इसमें सत्य, सौन्दर्य और शिवत्वकी सृष्टि करें। दान लेनेसे हमारी वह शक्ति नष्ट हो जायगी।’ ”

“ अत्रिने कहा—‘ हे राजन्, आप तो स्वयं ब्रह्मज्ञानी हैं। आपकी अग्निशालामें निरन्तर तीनों अग्नियोंका चयन हुआ करता है। आपके यज्ञोंका धूम सदा अपने साथ आपके यशको देवताओं तक पहुँचाता रहता है। फिर भी आप प्राकृत पुरुषकी भाँति बातें करते हैं। हम लोग तो कवि हैं—साहित्यिक हैं। हम प्रकृतिके उच्चारण हैं—उसकी अभिव्यंजना हैं। प्रकृतिमें आनन्द हो, तो हम प्रफुल्लित हो जाते हैं। दुःख हो, तो हमारे गीतोंमें करुणाका पारावार आन्दोलित हो उठता है। फूल खिलते हैं, तो हम हँसते हैं। पत्तियाँ झूमती हैं, तो हम नाच उठते हैं। बवंडर उठता है, आँधी चलती है, तो हम चीत्कार करने लगते हैं।’ ”

आज प्रकृतिमें नाशका तांडव हो रहा है। हमारी क्रियाएँ लुप्त हो गई हैं। आपको सबमुच ही हमारा कष्ट दूर करना है तो जाइए जिन हजारों-लाखों बुद्धिजीवियोंको गाय-बैलोंकी भाँति प्रसादमें बाँध रखा है, उनसे कहिए कि हाथोंमें फावड़े और कुदाल लेकर निकल पड़ें। कुएँ खोदें, नहरें निकालें। एक-एक साहित्यिक दस-दस वृक्षोंको सींचें। आने दीजिए वृक्षोंमें प्राण, पनपने दीजिए नई-नई पत्तियाँ। छा जाने दीजिए पृथ्वीपर हरीतिमाकी एक मोटी चादर। हमारे साम-गान स्वयं ही मुखरित हो उठेंगे। स्वाहा और स्वधा दोनों स्वयं उठकर स्वर्ग तक पहुँचने लगेंगी। पर्जन्यके देवता संतुष्ट होंगे। पृथिवी तृप्त हो धान्य उत्पन्न करेगी। वही आपका महादान होगा।'

“विश्वामित्र बोले—‘महाराज, मैं स्वभावसे ही कटुवादी हूँ। स्पष्ट कहूँगा, अन्यथा न मानिए। वह देखिए, दूरपर सड़खों किसान और श्रमजीवी इकट्ठे होकर सतृष्ण नेत्रोंसे इसी ओर देख रहे हैं। वे भूखे हैं, नंगे हैं। उन सबके बालक बिना दूधके मर चुके हैं। उनकी गृहलक्ष्मियाँ अपनी लज्जा बेचकर पत्नियोंका उदरपौषण कर रही हैं। वे आपके पीछे-पीछे यहाँ तक चले आए हैं। आप उनके राजा हैं। युगोंसे वे अपनी जीविकाका षष्टांश आपको देते रहे हैं, इसलिए नहीं कि यह ससागरा पृथ्वी आपकी है—क्योंकि पृथ्वी तो उन्हींकी है, जो उसे जोतते हैं, जो मेघकी बूँदोंके साथ अपने पसीनेसे उसका अभिषेक करते हैं—इसलिए नहीं कि उस धनसे आप भोग-विलासकी नदियाँ बहाएँ, सैन्य-निर्माण करें और संसारमें युद्ध सुलगाकर लाखों मनुष्योंको होम दें; इसलिए नहीं कि खटमलों और पिस्तुओंकी भाँति परोपजीवी अकर्मण्य साहित्यिकोंको अपने चारों ओर एकत्र करके गुणज्ञ होनेका स्वाँग रचें। ये किसान परिश्रमका छठा भाग आपको इसलिए देते हैं कि आप उनके कोषाध्यक्ष हैं। ये ही किसान इस पृथ्वीके स्वामी हैं, और आप हैं उनके

सेवक। आपको वे धन इसलिए देते हैं कि आप उसका सौगुना उन्हें लौटाकर दें, जिस प्रकार रसका शोषणकर सूर्यनारायण सौगुना जल पृथ्वीपर बरसा देते हैं। इन लोगोंको लूटकर आप इनके रक्तसे हमें सींचेंगे? अपनी अपार धन-राशि इन्हीं लोगोंमें बिखेर दीजिए। अपनी गौवं इनके बालकोंको दे दीजिए। अपने प्रासादकी अर्गलाएँ खोल दीजिए। निकालिए उन निकम्मे साहित्यिकोंको। भूखों मरते हैं, मर जाने दीजिए। संसारका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। ये किसान जब शस्य उत्पन्न करेंगे, तो उनके हलकी नोकोंसे नया साहित्य अपने-आप फूट पड़ेगा। श्रमजीवियोंके हथौड़ोंसे स्वयं ही संस्कृतिका निर्माण होने लगेगा। आपके दानका सम्यक् परिणाम वही होगा।'

“जमदग्निने कहा—‘हे राजन्, हम लोग कवि हैं। संसारमें ऋत और सत्यकी स्थापना करना हमारा धर्म है। आप हितेच्छु हैं, तो जाइए, हमारे उन सहस्रों समानधर्मा बुद्धिजीवियोंसे कहिए कि विश्वमें जहाँ कहीं असत्य है, उसका खण्डन करें। आपका राजस्व, सार्वभौम सत्ता, शस्त्र-बल, प्रासाद, मुकुट, राजदण्ड, भोग-विलास—ये सब असत्य हैं, अचिरन्तन हैं। शाश्वत तो मनुष्यता है, जो आज भूखी है, उत्पीड़ित है। आप नंगे सिर, नंगे पैर, बलकल-बस्त्र धारणकर उसीकी शरणमें जाइए। भूखोंको अपने हाथों खिलाइए। रोगियोंकी परिचर्या कीजिए। उनके बालकोंको दूध पिलाइए। तभी उशीनरके वंशकी रक्षा हो सकेगी। हम इसीको आपका दान समझ लेंगे।’

“भरद्वाज बोले—‘नहीं तो, हे राजन्, ये जो सहस्रों जीवित कंकाल वहाँ खड़े-खड़े आपकी कृपादृष्टिकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जो इतने दुर्बल दीखते हैं कि वायुके एक ही झोंकेमें पत्तोंकी भाँति उड़ जायँ वे किसी भी क्षण महानाशके दूत बनकर आपके साम्राज्यको धूलमें मिला देंगे।’

“कश्यपने कहा—‘हे राजन्, जनता शिशुके समान भोली तो होती है, किन्तु कृत्याके समान संहारकारिणी भी होती है। उसकी एक साँसे बड़े बड़े चक्रवर्ती राज्य बन जाते हैं और एक ही फूँकसे नष्ट भी हो जाते हैं, जिस प्रकार महासमुद्रकी तरंगोंपर छोटे-छोटे बुद्बुद उठते हैं और फूट जाते हैं।’

“गौतमने कहा—‘जनताकी भूखका दूसरा नाम क्रान्ति है। क्रान्तिका वाहन है साहस्य। क्रान्तिकी शत्रु है राजसत्ता। हे राजन्, राजनीतिज्ञ होते हुए भी आप अपने स्वर्णकी चमक दिखाकर हमें अन्धा बनाने आए हैं। हम तो भूखोंकी क्षुधाको शब्द देते हैं। उनके विद्रोहको काव्योंमें मढ़ते हैं। आप हमें मोल लेने आ गए ! किन्तु लोक-भावनाको क्या आप दबा सकेंगे ? हम न होंगे, तो हमारे स्थानपर दूसरे आ जायेंगे। जनार्दनका सुदर्शन आज तक किसीने रोका ? हम दान नहीं लेंगे। आपका कल्याण हो !’

“वृषादर्भि हताशा होकर लौट गया। क्रोधमें आकर उसने हवनकुण्डसे कृत्या उत्पन्न की और हमारे नाशके लिए विसर्जित कर दी। इसी समय प्रजापतिके आदेशसे भगवान् इन्द्र ब्राह्मणके रूपमें, एक कुत्तेको साथ लेकर, हम लोगोंमें आ मिले। राक्षसी कृत्या हमें तो मार न सकी, किन्तु इन्द्रको प्रतिभाहीन ब्राह्मण समझकर खाने दौड़ी। उसी समय कुलिशने उत्पन्न होकर भयंकर शब्द करते हुए उसे भस्म कर दिया। हम लोग इन्द्रको पहचान गए। वे बोले—‘प्रजापतिके आदेशसे मैं आपकी सेवामें आया हूँ। आप लोगोंके लिए सात नए लोकोंका निर्माण किया गया है। यह पृथ्वी कल्मषके अतिरेकसे इस योग्य नहीं रही कि यहाँ ब्रह्मज्ञानी सत्साहित्यिक महात्मा रह सकें। आप लोग मेरे साथ चलिए और अपने अपने लोकोंको पवित्र कीजिए।’

“मैंने कहा—‘नहीं भगवन्, पृथ्वीके दूसरे प्राणियोंको इस दशामें छोड़कर हम लोग स्वर्ग भी जाना नहीं चाहते। हम पलायनवादी नहीं हैं कि अपने चारों ओरकी परिस्थितियोंसे घबराकर स्वान्तः सुखमें ही आखें मूँद लें। आप सर्वशक्तिमान् हैं। मेघोंके समस्त कुल आपके ही अनुचर हैं। आदेश दीजिए कि बरस पड़ें। फिरसे एक बार पृथ्वी उर्वरा बन जाय। हमारे यज्ञ और अनुष्ठान पुनः प्रारम्भ हो जायँ। इतना ही हो चुकनेके उपरांत हम आपकी आज्ञाओंका पालन करेंगे।’

“इन्द्र बोले—‘मइर्षे, यह दुर्भिक्ष तो वृषादर्भिके पापसे उत्पन्न हुआ है। वह तो अपने कर्मोंका प्रायश्चित्त नहीं करना चाहता। फिर भी आपकी इच्छा मुझे अमान्य नहीं है।’

“इन्द्रके मुँहसे इन शब्दोंके निकलते ही आकाशमें काले काले हाथियोंके समान विशालकाय मेघ घिर आए। चाँदी-सोनेकी सर्पिणियोंकी भाँति बिजलियाँ चमकने लगीं। गम्भीर घोष हुआ और मयूर नाच उठे। गजमुक्ताके आकारकी सघन बूँदें एक-साथ बरस पड़ीं। दुर्भिक्षका अन्त हो गया। कुछ ही दिनोंके उपरान्त पृथ्वीपर हरीतिमाकी किरणें फूट पड़ीं। वृक्षोंमें कोंपलें निकल आईं। खेतोंमें हल चलने लगे। तपोवनोंके यज्ञधूम वक्र गतिसे स्वर्गकी ओर उठने लगे। मुक्तपाश धरित्रीको इस प्रकार आनन्दसे नाचते हुए छोड़कर हम सातों व्यक्ति एक दिन अपने-अपने लोकको चल दिए।

“तबसे आज तक सप्तर्षि लोकके द्वार संसार-भरके कवियों और सत्साहित्यिकोंके लिए खुले रहते हैं। जो लोग अक्षरशः अपने आदर्शोंका पालन करते हैं, जगत्में सत्य, सुन्दर और शिवत्वकी स्थापना करते हैं, अन्यायका विरोध और अत्याचारोंसे पीड़ित मानवताकी पुकारको क्रांतिकी शंखध्वनिमें परिवर्तित कर देते हैं, वे पुण्यात्मा व्यक्ति कर्मोंका

क्षय होनेके उपरान्त हमीमें आ मिलते हैं । हम मन्दार-पुष्पोंकी साखा और स्वर्गगाके जलका अर्घ्य लेकर उनकी अभ्यर्थना करते रहते हैं ।”

वसिष्ठजी इतना कहकर चुप हो गए । मैं स्तब्ध होकर अतीतका इतिहास सुन रहा था । एकाएक मेरी प्रसुप्त चेतनाको धक्का-सा लगा । स्मरण हुआ कि यह सब स्वप्नकी बातें हैं । किसी क्षण मैं जाग सकता हूँ । फिर कहाँ सप्तर्षि और कहाँ अतीतका वह कोमल आलोक ! सोचा, कुछ प्रश्न और भी कर हूँ । बोला—“भगवान्, आपके लोकमें उस समयसे आज तकके सभी दिवंगत साहित्यिक निवास करते होंगे, जैसे महर्षि व्यास, वाल्मीकि....?”

“हाँ, वे सब हमारे ही साथ रहते हैं ।”

“कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष.... ?”

“हाँ, सब !”

“शेक्सपियर, पुस्किन; टात्सटाय....? ”

“हाँ, वे भी । हमारे उस लोकमें देश और सम्प्रदायके बन्धन नहीं हैं । वहाँ व्यास और होमर, वाल्मीकि और थियोक्राइटस, तुर्गनेव और शरच्चन्द्र, यीदस और रवीन्द्र सब साथ रहते हैं ।”

“और बापू ? ”

“बापू कौन ? ”

“मोहनदास...! ”

मेरे मुँहसे इन शब्दोंका निकलना था कि देखा, सम्भ्रम और श्रद्धाके उद्रेकसे वे आठों मूर्तियाँ हिल उठीं । वसिष्ठने अत्यन्त स्निग्ध और दवे हुए स्वरमें उत्तर दिया—“वे तो परमज्योति थे, उसीमें विलीन हो गए । हम उनके प्रकाशको सृष्टिके आदिसे संसार-भरमें नाना रूपों और नाना

आकृतियोंमें प्रज्वलित होते देखते आए हैं । प्रलय-प्रयोधिके जलमें वेदोंको नष्ट होनेसे उन्होंने ही बचाया । समुद्रमें मग्न पृथ्वीको वे ही अपने दाँतोंपर उठाकर लाए । जानकीके उच्छ्वासांकी अग्नि लेकर उन्होंने ही रावणका नाश किया । बोधि-वृक्षके नीचे अपनी हड्डियोंको सुखाकर उन्होंने ही निर्वाणका मार्ग प्रशस्त किया । वे किसी एक लोककी सीमाओंमें बँध नहीं सकते । वायुकी प्रत्येक साँस, आकाशकी नीलिमा, जलकी शीतलता और अग्निके उत्तापमें उन्हींका निवास है । समस्त प्राणियोंके हृदयस्पन्दन वे ही हैं । सारा गोचर ब्रह्माण्ड उन्हींका सूक्ष्म प्रतिबिम्ब है । ”

वसिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि मुझे लगा, सामनेकी आठों मूर्तियाँ धीरे-धीरे लुप्त हो रही हैं । धीरे-धीरे आठों ज्योतिपुंज गलकर एक विराट् आलोक-स्तम्भमें परिवर्तित हो गये । प्रदीप्त कुहरेकी भाँति वह प्रकाश अंतरीक्षकी ओर उठने लगा । मेरे कानोंमें साम-गीतकी स्पष्ट ध्वनियाँ सुनाई पड़ीं ।

धीरे-धीरे प्रकाश बुझ गया । ध्वनियाँ डूब गईं । मुझे लगा, मेरे चारों ओर भीषण कालिमा उमड़ पड़ी है, मानों किसीने पकड़कर मेरा गला दबोच लिया हो । लगा, केवल एक प्रश्न और पूछना था । मैं छटपटाकर उठा । अंधकारमें हाथोंसे टटोलते हुए आगे बढ़ा । पाँव उठते नहीं थे, जैसे लकवा मार गया हो । मैं चिल्लाया—“वसिष्ठजी !....विश्वामित्रजी ! ....अरुन्धती माँ !....एक बात और बता जाइए ! जो साहित्यिक आपके आदर्शोंपर नहीं चलते हैं, उन्हें कौनसे नरकमें जाना पड़ेगा—रौरव ? कुम्भीपाक ? अन्धतामस ? ”

उसी क्षण लगा, यह तो स्वप्न है !—मूर्ख !! तब रातके बारह/बज चुके थे । मैं उठा । आँखें मींजता हुआ घरकी ओर चल दिया ।

## यमकी परम्परा

पुराने समयमें बाजश्रवस नामके एक राजा हुए। बड़े यश-लोलुप थे। ब्राह्मणोंको बूढ़ी गाँव दान देकर सहज कीर्ति प्राप्त करना चाहते थे। उनका सबसे छोटा पुत्र था—नचिकेता। पिताका पाखण्ड उसे अच्छा नहीं लगा। बोले—‘पिताजी, आप सभीको सब-कुछ देना चाहते हैं। इन बेचारे भोले-भाले ब्राह्मणोंको आपने वृद्धा गौएँ दीं। यह तो बताइए, आप मुझे, अपने पुत्रको, किसीको दे डालना चाहेंगे?’ पिताको पुत्रकी इस व्यंग-भरी आलोचनापर क्रोध हो आया। बोले,—‘मैं तुझे मृत्युको देता हूँ!’

यह सुनकर नचिकेता उठा और यमके देशकी ओर चल दिया। उन दिनों स्वर्ग, नरक और मर्त्यलोककी सीमाएँ बड़ी धुँधली थीं। आज-कलकी भाँति उनके बीच अनन्तताकी खाइयाँ खुदी हुई नहीं थीं। मनमें आते ही नन्दन-काननसे पारिजात तोड़ लाते थे, मानो वह भी अपने ही खेतकी मूली हो। इच्छा करते ही मृत्युके कपाट खटखटाने लगते थे। कोई भय नहीं, आशंका नहीं; क्योंकि पृथ्वीपर पुण्यका प्राचुर्य था औ। पापकी स्वल्पता।

नचिकेता यमके प्रासादमें पहुँचा। किन्तु वे बाहर गए हुए थे। वह चाहता, तो लौट आता। फिर कभी अवकाश होनेपर आ पहुँचता। किन्तु पिता तो उसका दान कर चुके थे। वह पालथी मारकर वहीं बैठ गया। तीन दिनके उपरान्त यम अपने घर लौटे। भूख और प्याससे हतप्रभ बालक अतिथिको उन्होंने देखा, तो मारे आतंकके उनके हाथ-

पाँव फूल गए । धर्म और अधर्म, पाप और पुण्यको वे बावन-तौला-पावर-रत्ती गणितसे तौला करते थे । अपने ही घर अतिथिकी उपेक्षा होती देखकर यमने शीघ्र ही उसका निराकरण करनेकी सोची । नचिकेतासे उन्होंने कहा—हे अतिथिदेव, आप मेरे घर तीन दिनसे भूखे प्यासे पड़े रहे हैं । इस कष्टके निष्क्रयमें कृपया तीन वर मुझसे माँगिए । नचिकेताने देखा, अच्छा अवसर है । देवताओंमें केवल दो ऐसे हैं, जो स्वभावके बड़े सरल और आशुतोष हैं । एक तो भगवान् नीलकण्ठ, दूसरे यमराज । संसार इन्हींसे अधिक डरता है और अवसर मिलनेपर इन्हींको सरलतासे ठग भी लेता है ।

नचिकेताने तीन वर माँगे । पहला, उसके पिताके सब यज्ञोंका अशेष फल प्राप्त हो, और वह लौटकर उनका दर्शन कर ले । मृत्युका और आत्माकी अनश्वरताका रहस्य छूछ । उसने यमसे ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्ति की । उस परम ज्ञानको तबसे आज तक वेदों और पुराणोंमें नचिकेताग्निके नामसे पुकारा गया है । उस अग्निको पाकर इस पृथ्वीके मनुष्योंने मृत्युके भयपर विजय प्राप्त कर ली । उसी दिन आत्माका प्रकाशन हुआ, और दुःख, व्याधि, और जराग्रस्त इस नश्वर देहकी ममता छोड़कर मनुष्य उस मार्गका अन्वेषण करने लगे, जिसे पाकर मृत्युका अतिक्रमण किया जा सकता है ।

नचिकेताको ब्रह्म-ज्ञान देकर यम बोले—“हे नचिकेता, अब तुम अतिथि न रहकर मेरे शिष्य हो गए हो । आओ, जब तक तुम्हें रुचे, मेरे प्रासादमें निवास करो । यहाँ तुम्हारे आतिथ्यमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं होगी । गुरु और पिता दोनोंका घर एक-सा मानना चाहिए । ”

नचिकेताने कहा—“भगवन्, मुझ अबोध बालकपर आपने जो कृपा की है, मैं उसका आभार किन शब्दोंमें प्रकट करूँ ! आपने यहाँ रहनेका

आदेश दिया, मैं उसे सिर-आँखोंपर लेता हूँ। किन्तु मुझे पिताके पास लौट चलनेकी उत्कण्ठा पीड़ित कर रही है। मुझे अपनी पृथ्वीपर अत्यन्त ममता है। उसके लिए तो मैं स्वर्गका भी त्याग कर सकता हूँ। इसके अतिरिक्त, हे धर्मराज, आपके इस लोकमें कोई दर्शनीय वस्तु भी नहीं है। चारों ओर खड़े आपके इन अनुचरोंकी भीषण आकृतियाँ देखकर मुझे भय लगता है। आप दण्डके अधिष्ठाता हैं। आपके राज्यमें मेरे लोककी प्रजा अहर्निश उत्पीड़ित होती रहती है। मैं स्वयं सुख और स्वच्छन्दतासे विचरण करता हुआ अपने ही समान दूसरे मनुष्योंको नरककी भयंकर यन्त्रणामें तड़पते हुए कैसे देख सकूँगा ? ”

यमराज उसकी स्पष्टवादितासे किंचित् हतप्रभ हुए। बोले—“ तुम्हारा कथन सर्वथा अनुपयुक्त नहीं है। यह देश ऐसा ही है, जहाँका शास्ता मैं हूँ। किन्तु मुझे तो आश्चर्य है कि ब्रह्म-ज्ञान पाकर भी तुम मोह-पाशमें बँधे हुए हो। तुम जानते हो कि आत्मा नष्ट नहीं होती। जो प्राणी मर्त्यलोकमें पापके कल्मषसे उसे मलिन कर देते हैं, मैं उन्हें यहाँ तपाकर खरा बना देता हूँ। स्वर्गमें जाकर पुण्योंका क्षय होता है और नरकमें पापोंका। तुम यहाँ रहो तो। तुम्हारी उपस्थिति मुझे अत्यन्त प्रिय है। रही पृथ्वीपर लौटनेकी उत्कण्ठा। सो, दो-चार दिन रहकर चले जाना। ”

नचिकेता यमके आग्रहके आगे झुक गया। यम थोड़ी देर चुप रहे। टकटकी लगाकर नचिकेताके मुखको देख रहे थे। उसे लगा कि उनकी दृष्टि सुदूर किसी अतीतका स्वरूप देख रही है। उनकी आँखोंमें एक धूमिल प्रकाश-सा झलक रहा है। अकस्मात् अपने विचारोंको समेटते हुए यम बोले—“ हे नचिकेता, तुमने कहा था कि पृथिवीको तुम स्वर्गसे भी अधिक गरीयसी मानते हो। तुम्हारे इस वाक्यसे व्यथाकी एक स्मृति मनमें जाग उठी है। वेदके कई मंत्रोंमें तुमने सुना होगा कि लोग मुझे

‘प्रथम पितर’ कहते हैं। कभी तुमने सोचा है कि मुझे यह उपाधियों मिली ?”

नचिकेताकी उत्सुकता पल्लवित हो गई। वह दोनों हाथ जोड़कर बोला—“नहीं महाराज, मुझे अत्यन्त लज्जा है कि मैंने आज तक इस विषयपर ध्यान नहीं दिया। आप कृपया इस रहस्यका उद्घाटन कीजिए।”

“अच्छा तो सुनो”—यमने कहा—“किसी समय तुम्हारी ही भाँति मैं भी मनुष्य था। यह जो देखते हो, तीनों लोकों और चौदहों भुवनोंको जो निरन्तर प्रकाश दे रहे हैं; तुम्हारे शरीरमें प्राण बनकर जो उष्णता प्रदान करते हैं; रक्तके अणु अणुमें जिनकी शक्ति लालिमा बनकर अजस्र प्रवाहित होती रहती है; तुम्हारी पृथिवीपर जिनके प्रतापसे पर्जन्य बरसता है, कृषि उपजती है; जिनकी किरणें पत्तियोंमें हरीतिमा, पुष्पोंमें इन्द्रधनुषी वर्णच्छटा और फलोंमें अमृतोपम रस बनकर विकीर्ण होती रहती हैं; जो ज्ञान और विद्याके उद्गम हैं; जो गायत्रीके अधिष्ठाता हैं; उन सविता देवताका मैं पुत्र हूँ। उनका एक नाम विवस्वान् है। अतएव पृथिवीपर जन्म लेकर मैं वैवस्वतके नामसे विख्यात हुआ। उन दिनों सृष्टिका शैशव-काल था। सब वस्तुएँ नई-नई थीं। वसुन्धरा ऐसी लगती थी, मानो अभी-अभी मन्दाकिनीमें स्नान करके आई हो। मुझे उसपर राज्य करनेको मिला। मेरे साथ थी—यमी। करुणामयी—प्राणियोंके दुःखसे आर्त्त—सृष्टि-मात्रका मंगल चाहनेवाली। मेरी उस बहनकी करुणा पृथ्वीपर नदी बनकर बहने लगी थी। कालिन्दी, यमुना, सूर्यपुत्री—ये सब उसी नदीके नाम हैं। तबसे आज तक लक्षाधिक वर्षोंसे वह नदी, संसारको अमृतसे आश्रयित करती हुई कोटि-कोटि

मनुष्योंको जीवन-दान दे रही है। यमी अत्यन्त सुन्दरी थी। हम दोनों युवावस्थामें पदार्पण कर चुके थे।....”

कहते-कहते यम रुके। नचिकेताकी ओर उन्होंने तीक्ष्ण दृष्टिसे देखा। मानो उसके मनका भाव जानना चाहते हों। फिर बोले—“उन दिनों सगोत्र विवाह न करनेका विधान नहीं बना था। विधि-निषेध स्थापित होनेपर ही पाप और पुण्यकी परिभाषाएँ बना करती हैं। सबसे पहले यमीने यह परम्परा चलाई कि भाई और बहन परस्पर विवाह नहीं कर सकेंगे।

“यमीने पहले प्रस्ताव किया कि हम दोनों परस्पर विवाह कर लें। परम्परागत होनेपर भी मुझे इस प्रकारके परिणयसे अरुचि थी। मेरी आनाकानीपर वह खीझ उठी। उसने रोषमें आकर उसी दिन संसारमें नया विधान प्रचारित कर दिया।

“इस घटनाके उपरान्त मेरे मनमें भयंकर प्रतिक्रिया तड़प उठी। संसारके प्रति, यहाँके सुख-भोग, विलास इत्यादिकी ओरसे मुझे विरक्ति हो गई। पागलों-सा घर-द्वार छोड़कर पृथिवीपर विचरण करने लगा। पहाड़ोंकी कन्दराओंमें छिपता फिरता। यमीकी क्रूर भर्त्सनासे मेरे अन्दर ग्लानिका समुद्र उमड़ने लगा था। हिमालयकी तुषारमण्डित शिलाओंपर लेट-लेटकर भी मेरे मनस्तापको शान्ति नहीं मिली। तब आकाशवाणी हुई—‘हे वैवस्वत, इस प्रकार तुम्हारे दुःखका शमन नहीं होगा। संसारसे हटकर कोई मनुष्य शान्ति लाभ नहीं कर सकता। तुम फिर जंगतमें जाओ। दूसरे प्राणियोंका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करो, उसीसे तुम्हारा सन्ताप बुझेगा।’

“आकाशवाणीको सुनकर मेरे हृदयमें शीतलताका स्रोत बह चला। हे नचिकेता, तब उसी दिन सर्वप्रथम मैंने मर्त्यलोकका सच्चा स्वरूप

देखा। पृथिवीके जिस प्राकृतिक सौन्दर्यपर मैं रीझ गया था, वह तो आडम्बर-मात्र था। मैंने देखा कि कितना दुःख, कितनी वेदना, कितने प्रकारके रोग, व्याधियाँ, भूख, प्यास, उत्पीड़न और अत्याचारसे उस लोकके प्राणी सन्तप्त हो रहे हैं। उन्हें दूर करनेका कोई उपाय नहीं। मुझे यह समझमें नहीं आया कि प्रजापतिने इतनी सुन्दर सृष्टि निर्मित की और इतने भीषण उपसर्ग बिखेर दिए। उनके काम सदा ऐसे ही रहे हैं। कुछ-न-कुछ भूल वे सदा करते ही रहे।

“विधाताने संसारके प्राणियोंके लिए तीन अवस्थाओंका क्रम बनाया—बाल्यावस्था, यौवन और वृद्धिक्रम। किन्तु मरणका विधान बनाना वे भूल गए। हे नचिकेता, तुम्हें विस्मय होगा यह सुनकर कि संसारके प्राणी तब तक मरते नहीं थे। तुम यह भी सोचते होगे कि अच्छा था, लोग अमर बने रहते। किन्तु अपनी आँखों उनकी दशा देखते, तो समझते कि अमरता कितनी अवांछनीय वस्तु है। मनुष्य उत्पन्न होते, युवावस्थामें नाना प्रकारके विषय-भोगोंमें डूबते-उतराते हुए समझते कि यही पृथिवी स्वर्ग है। किन्तु वृद्धावस्थाके आते ही उनके शरीर अशक्त होने लगते। रक्तका प्रवाह शिथिल होता जाता। चलने-फिरनेकी शक्ति नष्ट हो जाती। वृद्धों और निष्प्राण शिखाखण्डोंकी भाँति वे लोग झंझर-उधर निश्चल होकर पड़े रहते। उन्हें भूख लगती, किन्तु भोजन नहीं मिलता। प्यास लगती, तो वर्षाकी स्वयंप्राप्त बूँदोंके अतिरिक्त उन्हें कहींसे जलकी प्राप्ति न होती। अनेक प्रकारके रोग आकर घेर लेते। वनौषधियों तक उनकी पहुँच नहीं थी। देहोंपर चीटियाँ और दीमक लगी रहतीं, और कभी-कभी शृगाल आदि वन्य-जन्तु मांस नोंचकर ले जाते। एक-एक सड़े हुए घावको भरनेमें बरसों लग जाते। सारी वसुधरा इस प्रकारके कोटिशः मनुष्योंसे पटी जा रही थी। वे मर नहीं

सकते थे—जी नहीं सकते थे। मुझे तो ऐसा लगा, मानो वह सारा जगत् एक विशाल प्रेतालय बन गया है।

“तुम कहोगे, देवता भी अमर हैं। उनकी ऐसी दशा क्यों न हुई। देवता बड़े स्वार्थी होते हैं। मैं भी आज उन्हींमें एक गिना जाता हूँ। ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि मैं स्वयं तो एक दिन मनुष्य ही था। देवताओंने अमर होनेके साथ ही चिरन्तन यौवन भी अपने लिए एक ओर रख लिया। वे कभी वृद्ध नहीं होते। रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य उनके लिए नहीं बने हैं।

“प्राणियोंकी यह दशा देखकर मैं अपना दुःख तो भूल गया। उनकी दयनीय दशाको किसी प्रकार सुधारनेके प्रयत्नमें लगा। किन्तु मैं कर ही क्या सकता था ? विधाताके नियमपर मेरी क्या गति होती ? निराश होकर इसी उद्देश्यसे घोर तपस्या करने हिमालयकी ओर चल दिया।

“कई वर्षोंके उपरान्त भगवान् सविता देवता मुझपर प्रसन्न हुए। दर्शन देकर उन्होंने मेरे मनका अभीष्ट पूछा। मैंने कहा—‘भगवन्, आप मुझे वरदान दीजिए कि मनुष्य जाति नीरोग रहे, वृद्धावस्थाको प्राप्त न हो और किसी प्रकारका दुःख उसे पीड़ित न कर सके।’

“वे बोले—‘हे वैवस्वत, लोकमंगलकी तुम्हारी इस भावनासे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। किन्तु तुमने जो वर माँगा है, उसे देना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। प्रजापतिके नियमोंका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। हाँ, एक उपाय तुम्हें बताता हूँ। मनुष्योंमें यदि कोई स्वयं मरकर मृत्यु-पथका उद्घाटन कर सके, तो संसार महान् कष्टसे निष्कृति पा सकता है।’

“मैंने पूछा—‘भगवान्, यह मृत्यु क्या है ? किस अवस्थाका नाम है ?

‘जीर्ण-शीर्ण, रोगग्रस्त देहकी समस्त क्रियाओंके स्थगित होने तथा आत्माका शरीर-बन्धनसे मुक्त होनेको मरण कहते हैं । समस्त जीवधारियोंकी वास्तविक प्रकृति मरण है । जीवन एक प्रकारकी विकृति है, जिसमें फँसकर जीवात्मा नाना प्रकारके दुःखोंको भोगा करता है । आत्मा अजर, अमर, शाश्वत, चैतन्य और आनन्दमय है । जिसकी मृत्युका अभी तक विधान नहीं बना, उस पार्थिव देहके कारण वह अनेक विकारोंसे ग्रसित होता रहता है । अतएव तुम जाओ और संसारके प्राणियोंमेंसे किसी एकको मरनेके लिए प्रस्तुत करो ।’

“मैंने कहा—‘उन असंख्य प्राणियोंमेंसे प्रत्येकको अपने शरीरपर अत्यन्त ममता है । वे कल्पान्त तक पीड़ित होते रहना अभीष्ट समझेंगे, किन्तु मरना नहीं । इसलिए, हे पितः, आप मुझे ही मृत्युका मार्ग बताइए । मैं ही सर्वप्रथम उसे प्रशस्त करूँगा ।’

“मेरे शब्दोंको सुनकर भगवान् सूर्यनारायण क्षण-भर कुछ सोचते रहे । फिर कहने लगे—‘नहीं पुत्र, अभी तुम्हारी अवस्था ही क्या है ! युवक हो; जगतका एकातपत्र प्रभुत्व तुम्हें प्राप्त है; तुम्हारा शरीर अभी स्वस्थ और बलवान् है । मृत्यु वृद्धावस्थामें ही अच्छी लगती है । तुम्हें तो संसारमें अभी कई कार्य करने होंगे ।’

“मैंने कहा—‘आपका पुत्र हूँ, अतएव ममतासे प्रेरित होकर ऐसा कह रहे हैं । आत्मा जब अमर है, तो नई या पुरानी देहका क्या मोह ? संसार जितना शीघ्र दुःखसे मुक्त हो सके, उतना ही अच्छा होगा । आप तो मुझे मरनेका आदेश दीजिए ।’

“सूर्य देवताने मेरी बात सुनकर कुछ शिक्कते हुए कहा ‘तथाऽस्तु’ और मुझे उसी क्षण लगा, जैसे मेरी देह निर्जीव हो गई है । चारों ओर सूर्यके

समान अनुपम ज्योति-विस्तार फूट पड़ा। निष्प्राण शरीरसे मुक्त होकर मैं ऊपर अन्तरिक्षकी ओर उठने लगा। चारों ओरकी दिशाएँ मुझे जय-गानसे मुखरित होती हुई सुनाई दीं। स्वर्गके निवासी हाथोंमें पारिजातकी मालाएँ लिए मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। सप्तर्षि-वृन्द कमण्डलुओंमें मन्दाकिनीका जल भरकर मेरा अभिषेक करने लगा। उसी समय प्रजापति वहाँ आए, और बोले — ‘हे वैवस्वत, आज तुमने मेरी सृष्टिमें एक नए नियमकी स्थापना की है, अतएव संसार तुम्हें भविष्यमें यम कहा करेगा। मेरी मानसपुत्री मृत्यु तुम्हारी अनुचारिणी रहेगी। काल तुम्हारा सेवक होगा और भगवान् वरुण तुम्हारे सहचर बनेंगे। एक विशिष्ट लोकके तुम शास्ता होगे। जिस पृथिवीके तुम पुत्र हो, वहाँके असंख्य प्राणियोंको कर्मत्रिपाकसे मुक्त करनेका एकमात्र अधिकार तुम्हें होगा।’

“उसके उपरान्त देवतागण तो चले गए। मैंने देखा कि चारों ओर पृथिवीसे असंख्य जीवात्मा आकर एकत्रित हो गए हैं। जो लोग शताब्दियोंसे जीवनकी यातना भोग रहे थे, सबके सब मेरा अनुसरण कर मुक्तिको प्राप्त कर चुके थे। उस दिन धरित्रीकी छातीपरसे दुःखका एक महान् भार उठ गया। मृत्युकी परम्परा बन गई।

“हे नचिकेता, तुमने अभी पृथिवीके प्रति अपनी ममताका प्रसंग छेड़ा था। उसीसे प्रेरित होकर मैंने तुम्हें अपना इतिहास सुनाया।”

नचिकेताने दोनों हाथ जोड़कर यमको प्रणाम किया और कहा—  
“महाराज, आज आपने अपनी जो कथा मुझे सुनाई, उससे आपके प्रति मेरा पूजा-भाव सौगुना अधिक बढ़ गया है। आपके इन गणों और इस देशके प्रति मेरे जो विचार थे, वे सब नष्ट हो गए हैं। अब मैं आपके आदेशानुसार थोड़े दिन यहीं रहूँगा।”

यमने कोई उत्तर नहीं दिया। वे उसी भाँति ध्यानस्थ होकर बैठे

रहे। उनके मुखपर आज एक अदृश्यपूर्व कान्ति झलक रही थी। नेत्रोंसे अनिर्वचनीय स्निग्धता बरसी पड़ती थी। कई क्षणोंके उपरान्त सिर ऊपर उठाकर यम बोले—“ उस दिन केवल मृत्युकी ही स्थापना हुई हो, सो बात नहीं। एक नई परम्परा और भी चल पड़ी, जो उससे अधिक महान्, अधिक कल्याणकारिणी सिद्ध हुई। संसारमें मरनेका नियम तो सर्वसामान्य था ही। इच्छा अथवा अनिच्छासे प्राणियोंको मरना ही पड़ता है। किन्तु मेरे उदाहरणका अनुगमन करनेवाले अनेक मनुष्य वसुंधरापर उत्पन्न होने लगे। पृथ्वी-पुत्रोंकी यह एक नितान्त नई पौध थी, जिन्हें देख-देखकर देवता, दानव, मनुष्य और अन्य प्राणी समय समयपर आश्चर्य-चकित होते रहते हैं। इन लोगोंका एकमात्र उद्देश्य जगत्का कल्याण करना है, और उसकी सिद्धिका उनका एकमात्र मार्ग मृत्यु है। ये लोग स्वयं अपने प्राण देकर एक सत्यकी स्थापना विश्वमें करते चले जाते हैं। संसारकी अनेक भाषाओंमें इनके विभिन्न नाम हैं। देववाणीमें उन्हें ‘तथागत’ कहते हैं। यवनोंकी भाषामें वे ‘शहीद’ या ‘मास्टर’ कहे जाते हैं। मैं उन सबको ‘यम’ कहता हूँ; क्योंकि किसी एक महान् नियमको प्रचारित करनेके लिए ये लोग मेरे ही समान मृत्यु-मार्गका आश्रय लेते हैं।

“ये लोग किसी एक देश या काल-विशेषकी सीमाओंसे बँधे नहीं रहते। तथाकथित देशभक्त प्राणियोंसे इनकी जाति विभिन्न ही होती है। अगाध विश्व-बन्धुत्व लेकर ये लोग अवतीर्ण होते हैं। संसारी जीवोंके साथ सुख भोग करना इनके जीवनका लक्ष्य नहीं है। सुख और उल्लासमें उन्मत्त मनुष्योंसे दूर ये लोग संसारके उस क्षेत्रकी ओर चल पड़ते हैं, जहाँ दुःख और वेदनाकी लहरें सबसे अधिक उग्र रूप धारण करती हैं। अमृतके लिए जूझनेवाले देवों और दानवोंका समुद्र-

मन्थन तुमने सुना ही होगा। वहाँ जो हालाहल उत्पन्न हुआ, उसे केवल एक व्यक्तिने पिया था। कोई भी उस मूर्तिमान् मृत्युको आलिंगन करनेके लिए उद्यत नहीं हुआ। एकमात्र शिव आगे बढ़े। जगत्के कल्याणके लिए आँखें मूँदकर महाविष पी गए। तबसे तुम्हारी पृथ्वीपर निरन्तर एक प्रकारका मन्थन होता आ रहा है। दैवी और आसुरी शक्तियोंका परस्पर संघर्ष और उससे उत्पन्न हालाहल सृष्टिका नाश करनेके लिए उमड़ पड़ते हैं। तब माता पृथिवी एक यमको उत्पन्न करती है। वह सारे विश्वका विष समेटकर पी जाता है। स्वयं मरकर संसारके प्राणियोंके लिए अमृतकी धारा बहा देता है।

“यमोंकी इसी परम्परासे पृथ्वी अब तक स्थिर है। अन्यथा वह कभीकी जलकर राख हो गई होती। उसके पुत्र अनन्त कालसे अपना बलिदान देकर माताके कलेवरको पुष्ट करते आए हैं। उनके मांस और मेदासे वसुन्धराकी देह बनी। इसीसे उसका नाम मेदिनी पड़ा। उनकी अस्थियोंसे गगनचुम्बिनी पर्वतमालाएँ बनीं। प्राणियोंके दुःखको देखकर उमड़नेवाले उनके अश्रुओंसे सहस्रों नदियाँ बह चलीं, जो कल्पान्त तक पृथ्वीपर जीवन-दान करती रहेंगी।

“किन्तु, हे नचिकेता, शहीदोंकी इस टोलीपर विधाताका एक शाप है; क्योंकि उनके शाश्वत विधानोंका विरोध करनेके लिए ही इनका जन्म होता है। ये जिस देशमें उत्पन्न होते हैं और जिनके लिए प्राणोंका उत्सर्ग करना चाहते हैं, वे ही लोग उन्हें ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। अनेक यम अपने ही लोगोंके द्वारा मारे गए, और मारे जाएँगे। उनके बलिदानका सुफल संसार भोगता है, किन्तु उन्हें सदा उपेक्षा और घृणाका पात्र बने रहना पड़ता है। मुझीको देखो। संसार मुझसे डरता है। प्रातःकाल मेरा नाम लेना अमंगलका सूचक माना जाता है। मेरी दिशाकी ओर

मुख करके कोई पुण्य कृत्य नहीं किया जाता । मैंने ही सर्वप्रथम मरकर प्राणियोंको मुक्तिका मार्ग दिखाया । मुझसे ब्रह्मज्ञान पाकर तुम सीधे घर भाग जाना चाहते हो । मुझपर अब भी तुम्हें सन्देह है, इसीलिए तुमने पहला वर अपने प्रत्यावर्त्तनका ही माँगा ।

“अस्तु । जाने दो इन बातोंको । यह मेरे दुःखकी कहानी है । शताब्दियोंसे अपने इस सन्तापको मैं अन्तरालमें छिपाए हुए हूँ । देवताओंने मुझे पाप और पुण्यकी तुला सौंप दी है । अनन्त काल तक अपना दुःख आप ही तक सीमित रखकर मुझे कर्तव्य पालन करना होगा ।”

यमने मौन धारण कर लिया । नचिकेताने साष्टांग वन्दन करके कहा—“भगवन्, जब तक पृथ्वी है और जब तक उसपर आपकी परम्परा अटूट बनी हुई है, तब तक आपकी यह कथा मानव-जातिको निरन्तर आघ्रावित करेगी और उसे मृत्यु-भयसे छुटकारा दिलाती रहेगी।”

---

## कुम्भकर्णकी बात

“ आज सहस्रों दुन्दुभिषों और पटहोंके सामूहिक निर्घोषके द्वारा तुमने मेरी निद्रा भंग की है । तबसे इस समय तक जो-कुछ मैंने सुना, उससे तो लगता है कि अब तुम कहने और सुननेकी सीमासे बहुत परे पहुँच चुके हो । फिर भी दो बातें तुमसे कहनी ही पड़ेंगी । इसीलिए मैं यहाँ तक आया हूँ । युद्धके विषयमें तो मुझे तुम्हारा आदेश मिल ही चुका है । कल प्रातःकाल मैं रणस्थलमें चला जाऊँगा; परन्तु लौटकर आ सकूँगा, ऐसी आशा मुझे नहीं है ।

“ प्रतिदिन सायंकालको युद्धसे विरत होनेपर तुम एक नया सेनापति चुनते हो और दूसरे ही दिन उसकी निर्जीव देह चितापर जलती दिखाई देती है । जितनोंको तुमने भेजा, जीवित कोई नहीं लौटा । लगता है कि जीवन और मृत्युको लेकर तुम जितने भी दाँव लगा रहे हो, सभीमें तुम्हारा पाँसा उल्ट जाता है । यह मृत्यु किसी समय तुम्हारे कारागृहमें वन्दिनी होकर पड़ी हुई थी । आज मानो अपने उसी दीर्घ पराभवका बदला तुमसे ले रही है ।

“ कल मैं भी मारा जाऊँगा । मुझे इसकी निश्चित प्रतीति है । तुम्हें कहनेपर बुरा लग रहा होगा । तुम्हारे अन्तिम बड़े-बड़े दाँव अब इने-गिने रह गए हैं । मैं तुम्हींमें एक हूँ । तुम मुझे भी हार चुके हो ।

अन्तिम दाँव तुम्हारा स्वयंका अस्तित्व होगा। उसके उपरान्त महाप्रतापी इन्द्रजित रावण केवल कथा-शेष रह जायगा।

“देखता हूँ, तुम्हारी भौंहोंपर बल पड़ने लगे हैं। आँखोंमें रक्त-शिराएँ कुछ अधिक लाल, कुछ अधिक उभर आई हैं। नहीं भैया, रूढ़ न होना मुझसे। कुम्भकर्ण तुम्हारी आज्ञाका स्वप्नमें भी उल्लंघन नहीं करेगा। इस विषयमें तो तुम मुझपर वैसा ही गर्व कर सकते हो, जैसा राम भरत और लक्ष्मणपर करते हैं। कल देख ही लेना। कल मेरे तेजसे पृथिवी और आकाश दोनों प्रज्ज्वलित हो उठेंगे। देवताओंने अनेक युद्धोंमें मेरे पराक्रमका ऐसा भयंकर रूप नहीं देखा होगा। कल रामचन्द्रकी आधीसे अधिक वानरी सेना नष्ट हो जायगी किन्तु मेरा वह प्रताप दीपककी अन्तिम लौके समान एक ही बार भभककर बुझ जायगा। कुम्भकर्ण रणस्थलसे जीवित नहीं लौटेगा।

“मृत्युसे डर रहा हूँ—ऐसा भूलकर भी न सोचना। मेरे लिए जीवन और मृत्युमें कोई अन्तर नहीं। जीवन-भर सोता ही रहा हूँ—कल महानिद्रामें लीन हो जाऊँगा। इस पृथ्वीपर क्षुद्रातिक्षुद्र कीटाणुका भी एक अस्तित्व होता है। उसके चलनेसे एक गति उत्पन्न होती है, वातावरणमें एक अदृश्य सूक्ष्म क्षुब्धता व्याप्त हो जाती है। किन्तु मेरे जीवित रहनेसे लोगोंके विस्मयान्वित भयभीत मनोरंजनके अतिरिक्त और कोई प्रभाव चर-सृष्टिपर नहीं पड़ता। मेरी विशाल देह, मेरा पृथुल भोजन, मेरी चिरन्तन निद्रा—ये तीन वस्तुएँ संसारमें आश्चर्य-कथाओंका विषय बन गई हैं। अन्यथा मुझे स्वयं ही कभी-कभी अपने जीवित रहनेपर सन्देह होता है। जीवनके जितने भी दृश्य लक्षण होते हैं—चरित्र, प्रगति, संघर्ष, आशा, निराशा, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा इत्यादि—वे मुझमें एक भी नहीं हैं। समुद्रके किनारे जंगलमें एक विशाल पाषाणखण्ड आकाशको

चूमता हुआ खड़ा रखता है। उसकी विराट् निर्जीवतामें भी एक व्यक्तित्व है, प्रभाव है। मुझमें वह भी नहीं है।—और कल मैं मारा जाऊँगा। मुझे भय अथवा दुःख किस बातका ? जो कभी नहीं था, वह फिर कभी नहीं होगा। हाँ, कलकी मृत्युके उपरान्त कथाएँ रहेंगी। संसारकी स्मृतिमें मेरा नया जन्म होगा।

“किन्तु तुमसे बातें करनेका अवसर मुझे नहीं मिल सकेगा। इस-लिए आज कुछ कहना चाहता हूँ। हाँ, इससे पूर्व कभी बोला होऊँ, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। तुमारी राज-सभाओंमें—पण्डितोंके वाद-विवादमें—घरेलू सुख-चर्चाओं अथवा-कलह-कोलाहलमें—मेरा स्वर तुमने कभी नहीं, कभी नहीं सुना होगा। आज तुम्हें आश्चर्य है कि मुझमें यह वाक्चापल्य आया कहाँसे ! धैर्यसे सुनना। बुरा मत मानना। तुम्हारे संकेत मात्रपर मैं मृत्युका वरण करने जा रहा हूँ। इसलिए तुम्हें मेरी बात सुननी ही होगी।

“मैंने कहा था कि हम सब नष्ट हो जायँगे। पहलेके असंख्य युद्धोंमें मैंने ऐसी मन्त्रणा कभी नहीं की होगी। आज जो यह कह रहा हूँ; उसका आधार एक निश्चित सत्य है। वह सत्य है पतनका क्रमिक इतिहास। यह हमारे राक्षस-समाजका पतन है—एक तुम्हारा अथवा मेरा नहीं। तुम निमित्त अवश्य बन गए हो। तुम्हारे व्यक्तिगत कार्य समूची जातिके नाशके कारण बन रहे हैं। यही व्यक्तिगतता समाज और राष्ट्रका नाश करती है। जब एक व्यक्ति पूरे समाजसे हटकर अहंता प्राप्त कर लेता है—वह पहला लक्षण होता है समाजके क्षयका। उसका अर्थ होता है कि समाजकी समवेत जीवन-शक्ति नष्ट हो चुकी। चींटियोंके पंखोंकी भाँति व्यक्तिवादका उदय समाजकी मृत्युका कारण होता है। लंकाकी राक्षस-जातिके पंख उस दिन उगे,

जिस दिन तुमने जन्म लेकर कहा—‘आओ, मैं तुम्हारा नेता बनूँगा । मैं तुम सबसे अधिक शक्तिशाली हूँ, मैं तुम्हें उन्नतिके मार्गपर ले चढ़ूँगा । और जब बिना किसी आपत्तिके लंकाके सभी राक्षसोंने तुम्हारा नेतृत्व स्वीकार कर लिया, तो उसी दिन उस इतिहासका प्रथम परिच्छेद लिखा जा चुका था, जिसका उपसंहार कुछ ही दिनोंमें तुम्हारी मृत्युपर लिखा जायगा ।

“आह, तुम चिहुँक उठे हो । तुम्हारा मुख प्रातःकालीन सूर्य-सा तमतमा रहा है । कमरमें लटकती चन्द्रहासकी मूठपर तुम्हारी अँगुलियाँ झिझक रही हैं । किन्तु यह क्रोध निष्प्रयोजन है । भैया, मैं तो तुम्हारा अन्ध अनुचर हूँ । तुम बुरा करो अथवा भला, मुझे कोई प्रयोजन नहीं । धनुषसे छूटे हुए अपने तीरके समान तुम मुझे भी विश्वसनीय समझ सकते हो । कल तुम जो कहोगे, वही मैं करूँगा । मेरा वश चले, तो कल राम और लक्ष्मण दोनोंकी इहलीला समाप्त हो जायगी । परंतु वह होगा नहीं—नहीं होगा । तुम ब्रह्मज्ञानी हो । आह, विधाताके व्यंग्यकी इससे अधिक क्रूरता और क्या होगी ! तुम जानते हो कि जो सत्य है, उसीकी अन्तिम विजय होगी । तुम्हारी शक्ति मिथ्या है । तुम्हारी शक्ति इतनी अशक्त हो चुकी है कि तुम शत्रुकी विवाहिताको चुरा सकते हो । मैं तब मानता कि तुम रामको संप्राममें मारकर सीताको हर लाते । शास्त्रोंने—यद्यपि मैं उन्हें भी असत्य मानता हूँ—स्त्री और पृथिवीको वीरभोग्या कहा है । खैर, जाने दो इन बातोंको । पर-स्त्रीका चुराया जाना भी हमारे समाजके ही नैतिक हासका लक्षण है । आश्चर्य है कि इन लाखों राक्षसोंमेंसे एकमें भी इस दुष्कर्मपर तुम्हारे विरुद्ध विद्रोहकी भावना नहीं जगी ! एक भी व्यक्तिने यह पुकार नहीं उठाई कि असत्कर्मा रावणको दण्ड दो ! क्रान्तिकी दहकती आगमें उसे झोंक दो ! फिरसे व्यक्तिपर

समाजकी विजय हो जाने दो ! तो नष्ट हो चुकी हमारी जाति । तुम-जैसे कोटि-कोटि रावण भी उसे विनाशसे नहीं बचा सकते । जो समाज, जो राष्ट्र अपने नेताओंको दुष्कर्म करते देखकर भी चुप रह सकता है, उसे जीनेका, पनपते रहनेका कोई अधिकार नहीं ।

“लंकाके इसी पतनकी कहानी मैं कह रहा था । छोटा-सा सुन्दर द्वीप । महासागरका तरंगित प्रसार इसे बाहरी विश्वसे पृथक् किए रहा । त्रिकूटपर बसी लंका नीले स्वच्छ आकाशके नीचे परमेश्वरकी स्नेह-किरणोंमें जीवनकी उष्णता पाती रहती थी । द्वीपके किनारे नारिकेल और तालके हरे-हरे वृक्ष बड़े बड़े पत्तोंको हिला-डुलाकर सागरकी फेनिल तरंगोंको आमंत्रित करते रहते थे । सागर हमारा पिता था, हमारा रक्षक और उदर-पोषक । आकाशमें छितराए नक्षत्रोंकी भौँति किनारेकी सिकतापर असंख्य मोती, मूँगे और बहुमूल्य मणियाँ बिखरी रहतीं । लंकाके निवासी नौकाओंमें बैठकर सुदूर देशोंमें उन मणियोंका विक्रय करते और जीवनकी अन्यान्य उपयोगी वस्तुएँ लेते आते थे ।

“स्वर्गमें देवता शान्त-सन्तुष्ट थे । उनके अमृत-घटको कोई छूना नहीं चाहता था । नन्दन-वनके पारिजात किसीके आकर्षणकी वस्तु नहीं थे । अप्सराओंके अखण्ड यौवनपर किसीकी लुब्ध दृष्टि नहीं जाती थी । कुबेरकी निधि आँकनेकी उत्सुकता किसीको नहीं थी । सुदूर भरतके देशसे कभी-कभी संघर्षकी क्षीण ध्वनि यहाँ तक अवश्य पहुँच जाती थी । आर्यों और आर्येतर जातियोंमें उधर परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी । किन्तु महासागरकी गोदमें सोए राक्षसोंके इस छोटे द्वीपपर किसीकी दृष्टि नहीं थी । मछलियाँ मारने और मृगयाके साधारण शस्त्रोंके अतिरिक्त दूसरे प्रकारके मारक अस्त्रोंसे हम परिचित नहीं थे । न हमें

उनकी आवश्यकता ही थी। अहिंसा हमारी रक्षाका सबसे बड़ा अस्त्र था। पहले दूसरोंको जीने देकर स्वयं जीवित रहनेकी हमारी नीति थी।

“समाजमें व्यवस्थाकी एक विशेष प्रणाली थी। राजा कोई नहीं था। राक्षसोंकी एक चुनी हुई परिषद् समाजका नियन्त्रण करती थी। किसी एक व्यक्तिको धन अथवा शक्ति एकत्रित करनेका अधिकार नहीं था। अपने-अपने परिश्रमसे लोग समाजके उपयोगकी वस्तुओंका उत्पादन करते थे। स्वयं अकर्मण्य रहकर दूसरेके श्रमका शोषण करके कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता था। खेतोंमें किसान हल जोतते थे। भूमिके एकमात्र स्वामी वे ही रहते थे। छोटे-छोटे भू-खण्डोंको पृथक्-पृथक् जोतकर शक्तिका अपव्यय होता, अतएव ग्रामोंमें दस-दस, बीस-बीस किसान मिलकर सामूहिक खेती करते। श्रमका समान भाग सबको देना पड़ता और कृषि-फलका समान उपभोग सब लोग करते थे। दूसरे देशोंसे व्यापार समाज करता था, न कि दो-चार व्यक्ति।

“राक्षसोंकी लंका जब इस प्रकार शान्तिपूर्वक समताके मार्गपर अग्रसर हो रही थी, तब अकस्मात् प्रलय-कालके धूमकेतुके समान तुम उत्पन्न हुए। विप्रोंके वंशमें तुम्हारा जन्म हुआ। बचपनसे ही प्रकृत ब्राह्मण बननेकी शिक्षा तुम्हें दी गई। संसारके बहुजनोंके सुखके लिए अपने अस्तित्वको अस्वीकार करना तुम्हारा कर्तव्य था। सागरकी छातीपर उठा हुआ एक क्षुद्र बुद्बुद् जिस प्रकार विधाताके संकेत-मात्रपर बड़े ही सुखसे अपने-आपको तरंगोंकी गतिमें लीन कर देता है, उसी प्रकार तुम्हें सिखाया गया था कि पहली आवश्यकतापर अपने लघु व्यक्तित्वको विश्वात्माकी विराट्तामें मिला दो। तुममें जन्मजात प्रतिभा थी। गुरुजनोंको आशा थी कि तुम्हारे द्वारा विश्वका महान् कल्याण होगा। किसी दिन संसारके हितके लिए अपना बलिदान करके तुम

अमर बनोगे। परंतु सारी विद्या, समस्त ज्ञान तुममें पहुँचकर सर्पके शरीरपर स्वातिकी बूँदके समान हाव्यहल विषमें परिणत हो गया। तुम घोर व्यक्तिवादी बन गए।

“तुम समाजिक समानतासे ऊपर उठना चाहते थे। तुम्हें नेता बननेकी सूझी। तुम्हारे नेतृत्वके बिना भी लंका सुखसे जी रही थी। अन्तर इतना अवश्य था कि लंकाके घर मिट्टी-पत्थरके बने हुए थे—सोने-चाँदीके नहीं। लंका सोनेकी नहीं थी, परन्तु उसे जलानेके लिए समुद्र लाँघकर वानर भी नहीं आते थे।

“नेता बननेके लिए तुमने एक निन्तान्त नूतन मार्ग खोज निकाला। तुमने समाजमें एक भावना उत्पन्न की—तीव्र महत्त्वाकांक्षाकी भावना। शान्तिसे रहनेवाले राक्षसोंसे तुमने कहा—‘उठो, शस्त्र धारण करो। इन्द्रका सिंहासन जीत लो। स्वर्गकी अम्पराओंका भोग करो, कुबेरके कोषको रिक्त कर दो। संसार-भरके सौख्यको बटोरकर लंकामें ले आओ।’

“मदिराका व्यापारी जिस प्रकार पहले लोगोंको निःशुल्क पिला-पिलाकर उसकी आवश्यकता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार तुमने शान्तिप्रिय राष्ट्रमें संघर्षकी भावना उत्पन्न की। अन्यथा तुम्हें नेता अकारण कौन मानता? सामान्य खेती करके अथवा परिश्रमसे उदर-पोषण करके तुम्हारे अहंवादको भला कैसे तृप्ति मिलती? राष्ट्रके जीवनको बिना कुचले तुम्हारी एकतन्त्रात्मक सत्ता कैसे पनप सकती थी? तुमने किसानोंसे खेत छुड़वाए। जो धरती स्वर्ण-शस्य उत्पन्न करती थी, वह तुम्हारे उदयके मुहूर्त्तसे लेकर आज तक अनुर्वर पड़ी हुई है। बरसोंसे राक्षसोंने पृथिवीसे अन्न उगाकर नहीं खाया। छटसे आए हुए पदार्थोंसे ही वे लोग जीविका-निर्वाह करते हैं। श्रमिकोंसे हथौड़े छुड़वाकर तुमने तलवारें, भाले और शतप्रियाँ चलावाईं। श्रमकी महत्ता

नष्ट हो गई। सीधे-सादे कमकर, भोले-भाले किसान, दूसरोंके गले काटकर आनन्द पाने लगे। यह छोटा-सा द्वीप अख-शस्त्रोंका एक भीषण आगार बन गया। राक्षसोंने तुम्हें नेता मान ही लिया, और तुमने विजय-यात्राएँ प्रारम्भ कर दीं।

“उसके अनन्तरका इतिहास सब जानते हैं। लंकासे राक्षसोंकी असंख्य सेनाएँ बाहर निकलीं। क्या स्वर्ग, क्या पृथिवी, क्या पानाल—सर्वत्र नाश और मृत्युका उच्छृंखल ताण्डव होने लगा। जिस लंकाको संसार जानते हुए भी भूला हुआ था, उसीसे फूटे हुए इस ज्वालामुखीको देखकर चराचर सृष्टि भीत-चकित हो उठी। इन्द्र अपना सिंहासन छोड़कर हिमालयकी दुर्गम गुफाओंमें बास करने लगा। कुबेरकी निःशेष निधि तुम्हारी मुट्ठीमें आ गई। यमराज तुम्हारे कारागृहके अतिथि बने। सूर्य और चन्द्र लंकाके सिंहद्वारपर प्रतीहार बन गए। लंका सारी-की-सारी सोनेसे मढ़ दी गई। उसकी दीप्तिके सम्मुख सूर्यका तेज भी फीका पड़ गया।

“राक्षसोंने ऐसा वैभव देखा न था। वे लोग शक्ति और विजयके मदमें चूर हो गए। मैं इन विजय-यात्राओंमें सदा तुम्हारा पार्श्वचर रहा। अप्रज हो मेरे, इसलिए मैंने कभी भी तुम्हारा विरोध नहीं किया। तुम्हारी कमरमें लटकते चन्द्रहासकी भाँति मैं संकेत पाते ही तुम्हारे शत्रुओंको नष्ट कर डालता। किन्तु संघर्षकी उस नीतिपर मेरा कभी विश्वास नहीं हुआ। स्वभावसे ही बोलनेकी प्रवृत्ति मुझमें नहीं थी। मैं तो चुपचाप देखता रहता था कि किस प्रकार समूचा राष्ट्रका राष्ट्र एक व्यक्ति-द्वारा मिथ्या-मार्गपर चलाया जा सकता है। किस प्रकार असत् उद्देश्य और क्षणिक विजयका दर्प हजारों-लाखों व्यक्तियोंको एक साथ विवेकहीन बना सकते हैं। मैं अच्छी तरह जानता था कि ये विजय-यात्राएँ तेजीके

साथ हमारे समाजको रसातलकी ओर लिये जा रही हैं। राक्षसोंमें अपना चरित्र नहीं रह गया था। रात और दिन युद्ध, तलवारोंकी झनझनाहट, धनुषोंका टंकार, विजेताकी दर्प-गर्जना और पराजितोंकी निराशाका करुण क्रन्दन, यह सब तुम्हारे संकेतपर हो रहा था। सबका अस्तित्व तुममें समा गया—व्यक्तियोंकी पृथक्ता तुममें मिलकर एकाकार हो गई।

“जब तीनों लोक जीत चुके, तो तुम्हारे सामने प्रश्न उठा—अब क्या करें? युद्धोंसे विरतिका अर्थ होता कि राक्षस-समाजको स्वतन्त्र चिन्तनका अवकाश मिलता। तुमपर केन्द्रित राक्षसोंका पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व फिरसे विभिन्न इकाइयोंमें परिणत हो जाता। किसान पुनः खेतीमें जुट जाते। श्रमिक वर्ग फिरसे हथौड़ा हाथमें ले लेता। सामाजिक परिषदोंका फिरसे चुनाव होता और तुम्हारे व्यक्तित्वकी इति हो जाती। तुम्हारा स्वार्थ इसीमें था कि राक्षसोंको किसी न किसी कार्यमें लगाए रखते। राष्ट्रको जब तक अपने अस्तित्वका भान नहीं होता, तभी तक तुम-जैसे व्यक्तियोंकी एकतन्त्रता निश्चल बनी रहती है।

“तब तुमने एक और धक्का दिया कि पतनकी ओर हमारी गति द्रुततर हो गई। जिसे अनैतिकता कहते हैं, अब राक्षसोंको तुमने उस ओर प्रवृत्त किया। तुमने तपोवनोंको उजाड़ना प्रारम्भ किया। परमार्थ-चिन्तनमें लगे तपस्वियोंका निर्दोष रक्त पृथिवीपर बहा। गुरुकुलोंको तुमने भ्रष्ट किया। निहत्थे ब्राह्मणोंको तुमने मारा। अबल स्त्रियोंपर तुम्हारे राक्षस अत्याचार करने लगे। छोटे-छोटे अबोध बालक हजारोंकी संख्यामें मौतके घाट उतार दिए गए। मैं देख-देखकर मन-ही-मन काँप उठता था। समझ गया था कि राक्षस-समाज नष्ट हो चुका। तुम्हारा व्यक्तित्व उनपर सम्पूर्ण रूपसे व्याप्त हो चुका था। अब तो वे अन्याय-अत्याचारके निमित्त-मात्र रह गए थे। पतनकी भूमिका पूरी हो चुकी थी।

“अब आज तुमने मुझे जगाया है। कहते हो—लड़ो रामसे। तुम जो कहोगे, मैं तो वही करूँगा। किन्तु, भैया, तुम्हारा शक्ति-स्रोत अब सूख चुका है। राम और लक्ष्मण साधारण मनुष्य नहीं हैं। ये तुम्हारे अहंवाद, तुम्हारे असंख्य अत्याचारोंकी मूर्तिमान प्रतिक्रियाएँ हैं। प्रकृतिका शाश्वत नियम कभी झूठा नहीं पड़ सकता। हिंसा, संघर्ष, युद्ध और नाश अप्राकृतिक वस्तुएँ हैं। तुम तो ब्रह्मज्ञानी हो। कहते हैं, ब्रह्मतत्त्वकी तुम्हारी-जैसी पहचान तीनों लोकोंमें किसी दूसरेको नहीं है। तुम्हीं सोचो, अभी युद्ध स्थगित है। लोग अपने घरोंमें विश्राम कर रहे हैं। जो मर गए, उनके परिवार वियोगमें रो पीट रहे हैं। जो जीवित हैं, उन्हें कल मर जानेकी आशंका है। वे अपने-अपने बच्चोंको छातीसे लगा रहे हैं—अपनी पत्नियों, बहनों और माताओंसे जी-भर स्नेहसे वार्तालाप कर रहे हैं। सबको मरनेका भय है—सबको जीवित रहनेकी आकांक्षा है। प्रकृतिका कण-कण जीना चाहता है। मृत्युकी इच्छा अवास्तविक है। जीवन शाश्वत सत्य है।

“मेरी सच न मानो, तो एक संकेत-भर कर दो। राक्षसोंकी युद्ध-लिम्बा नष्ट हो चुकी है—तुम्हारा मादक व्यक्तित्व अब उन्हें प्रभावित नहीं कर रहा। वे लोग जो लड़ रहे है—मर रहे हैं—यह तुम्हारे प्रभावसे नहीं। उन्होंने स्वयं जो दुष्कर्म किए हैं—उनकी प्रतिक्रिया—प्राकृतिक न्यायकी भावना—उनके हृदयोंमें उदय हुई है। एक सत्यका दर्शन उन्हें हुआ है कि जो व्यक्ति हिंसा करता है—जिसके द्वारा दूसरे प्राणीको पीड़ा और मृत्यु मिलती है—वह स्वयं मर चुका। तुम स्वयं मर चुके हो। देखो, क्रोध नहीं, आश्चर्य नहीं। तुम कह-भर दो—‘कल प्रातःकाल युद्ध नहीं होगा। राक्षस स्वतन्त्र हैं, चाहे जो-कुछ करें।’ तो देखना, लंकाका बच्चा-बच्चा बाँहें खोलकर

रामके सैनिकोंसे गले मिलने दौड़ेगा । जीवनमें कितनी स्नेह-शक्ति होती है, इसका तुमने कभी अनुभव नहीं किया । लंकाके राक्षस, किष्किन्धाके वानर, अयोध्याके राम-लक्ष्मण—ये सब उसी एक महान् शक्ति-सूत्रमें बँधे हुए हैं । यही शक्ति-सूत्र युग युगमें छिन होनेपर फिरसे जुड़नेके लिए अनेक रूप धारण करता है । वही विराट् मत्स्य बनता है—बराहका रूप धारणकर समुद्र-मग्ना धरित्रीको अपने दाँतोंपर उठा लाता है—वामन बनकर तीनों लोकोंको अपने पाद-प्रक्षेपसे माप लेता है—राम और लक्ष्मण बनकर भारी-भारी पाषाण-शिलाओंको सागरकी तरंगोंपर तालपत्रके समान गिरा देता है—वही मूर्तिमान् क्रान्ति बनकर इक्कीस बार जनताके शोषक क्षत्रियोंको मारकर पृथ्वीपर समता-राज्य स्थापित करता है । जिसने उसे पहचान लिया, वह योगी है ।

“तुम सिर लटकाकर बैठे हुए हो । नहीं सुनोगे—एक नहीं मानोगे ! तुम्हें मेरी बात शूल-सी चुभ रही है । मान रहे हो कि मैंने सत्यका नम्रतम रूप तुम्हारे सामने रखा है । अब भी समय है । जिस स्त्रीको चुराकर लाए हो, उसे उसके पतिको लौटा दो । कोई बुराई नहीं है, इसमें । अपने पापको स्वीकार कर लेना प्रकृत वीरता है ।

“और उसके उपरान्त—यदि मेरी मानो तो—लंकाके राक्षसोंकी एक परिपत् बुलाओ । यह राज-मुकुट उतार दो । शरीरपरसे लौहवर्म्म, कन्धेपरसे तूणीर, कमरसे चन्द्रहास निकालकर एक ओर फेंक दो । एक सामान्य मनुष्य बनकर जनता-जनार्दनके सम्मुख बँधे हाथ, नत-मस्तक होकर कहो कि संसारकी सच्ची सत्ता जनताके हाथ में है—एक व्यक्तिके हाथमें नहीं । शक्तिका, धनका, ऐश्वर्य और सुखका प्रकृत स्वामी समाज है । अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है । राम तत्काल अयोध्या लौट जायँगे । लंकामें फिरसे वही पुरातन शान्ति स्थापित हो जायगी ।

खेतोंमें फिरसे हल चलेंगे । पृथ्वी-पुत्रोंको फिरसे धरतीका प्राणद स्पर्श प्राप्त होगा । श्रमका वास्तविक मूल्य फिरसे आँका जाने लगेगा । तपस्वी परमार्थ-चिन्तनमें लगेंगे । गुरुकुलोंमें वेदाध्ययन प्रारम्भ होगा । ब्राह्मण हो, भैया, ब्राह्मणोंके कर्म करो । हिंसाके व्यवसायको तिलांजलि देकर विश्व-कल्याणके मार्गपर चल पड़ो । जिस रावणके नामपर आज लोगोंमें भय और घृणाका उद्रेक होता है, उसीका नाम प्रातःकाल लेकर लोग अपने-आपको धन्य समझेंगे । तुम्हारे अन्तःकरणमें सत्की जो महान् सम्भावना सुप्त पड़ी है, उसे जगा दो । जिसकी असंख्य सन्तानोंका तुमने वध किया, उस माता पृथिवीके अन्तर्दाहको पश्चात्तापके आँसुओंसे सींच दो ।

“किन्तु तुम्हारी मुख-मुद्रा कहती है कि मेरी बात तुम्हें अच्छी नहीं लगी । नहीं मानोगे ? अच्छी बात है । परमेश्वरकी इच्छा पूरी हो । असत्का तो पराभव होगा—होगा । कुम्भकर्ण अन्तिम बार जाग गया है । वह सच्चा व्यक्ति है । अपनी अथवा दूसरेकी प्रवंचना वह कभी नहीं सीखा । पहली बार आज वह बोला है ; क्योंकि कर्तव्यका गुरु भार उसे पीड़ित कर रहा है । जो-कुछ कहना था, मैं कह चुका । तुम नहीं मानते—न मानो । कल अदृष्ट-पूर्व पराक्रमकी ज्योतिमें मुझे मरते देख लगे । एक दिन उसी राह तुम भी चले जाओगे ।”

## कर्मनासा

कह रही हूँ कि मैं एक नदी हूँ । तुम लोगोंने मेरा यह नाम जान-बूझकर रखा था । संसारकी अन्य नदियोंको तुमने चित्ताकर्षक नामोंके अतिरिक्त कुछ और कहकर नहीं पुकारा; क्योंकि प्रत्येकके साथ तुम्हारे किसी-न-किसी स्वार्थका लगाव अवश्य था । गंगा नदीको प्रसन्न रखनेके लिए तुमने उसे क्या एक ही नाम दिया ?—गंगा, भागीरथी, जाह्नवी—और तुम्हारी चाटुकारिताकी चरम सीमा तो तब खिंची, जब तुमने तेतीस कोटि मनुष्योंकी धात्री, उस महालोक नदीको झूठ-मूठ सुरसरिता, देवनदी इत्यादि नामोंसे पुकारना प्रारम्भ किया । यह तो तुम्हारे राष्ट्रका गुण ही है कि तुम किसी भी महान् आत्माको शीघ्र-से-शीघ्र देवत्वके निश्चल आसनपर बिठा देते हो और दुहाई दे-देकर, उसके यशके कुहरके पीछे छिपकर, स्वार्थकी पूर्ति करते हो । मुझ अभागिनीको यह सौभाग्य प्राप्त न था कि किसी भी प्रकार तुम्हारे प्रयोजनमें आ सकूँ । तो तुमने मुझे 'कर्मनासा' कह दिया । छोटीसी नदी, ऊँची-ऊँची पहाड़ियोंकी सन्तान, भारी-भारी चट्टानोंसे घिरी हुई, अनर्गल, अनियंत्रणशील—मुझसे भला तुम्हारा क्या काम बनता ? तुमने मेरी उपेक्षा ही नहीं की, प्रत्युत मेरे इस असुन्दर नामकी आड़में समस्त मानव-जातिका एक विराट् उपहास भी तुमने किया । विश्वके बहुजनका इससे बड़ा अपमान कभी हुआ हो स्वयं तुम्हारी ही स्मृतिके इतिहासमें, इसका कोई लेखा-जोखा नहीं है । किस प्रकार तुम मुट्ठी-भर

अपसंख्यकोंने ऊपर उठनेका प्रयास करते हुए शोषितोंकी आकांक्षाओंको कुचलकर, उनकी छातीपर खंड होकर अट्टहास किया था—इस भूली हुई कहानीको आज कोई नहीं जानता ।

तुमने, संसारकी आँखोंमें धूल झांकनेके लिए, अतीतकी उस महान् घटनाको एक क्षुद्र प्रहसनका रूप दे दिया । यद्यपि मेरा उससे कोई सीधा सम्बन्ध तो नहीं था, फिर भी मुझपर तुम्हारा आक्रोश तो था ही—तुमने झट्मे मुझे भी अपने घृणित प्रहसनकी पात्री बना लिया । कहा—कर्मनासा स्वर्गभ्रष्ट राजा प्रिशंकुकी लारसे उत्पन्न हुई है । छिः-छिः, तुम्हें यह भी ध्यान नहीं रहा कि तुम्हारी इतनी बड़ी मिथ्याके कई साक्षी भी तो थे । माना कि मानवोंकी स्मृति विस्मरणशील है; किन्तु नहस्त्रों किरणों द्वारा अनादिकालसे संसारको ज्ञान और प्रकाशका दान देनेवाले सविता देवता तो जैसे उस समय थे, वैसे ही आज भी हैं । जगतके प्राणोंमें संचार करनेवाली वायु आज भी वही है । मेरी छोटी-छोटी तरंगोंमें क्रीड़ा करनेवाले भगवान् वरुणदेव आज भी प्रवचन-भरी तुम्हारी करतूतको नहीं भूले हैं ।

फिर मैं जो हूँ, अज्ञ बहती जा रही हूँ । तुमने सोचा होगा कि किसी भी छोटी-मोटी भौगोलिक दुर्घटनाके होते ही यह क्षुद्र नदी सूख जायगी । तुम्हारी यह दुराशा पूरी नहीं हुई । होती भी कैसे ? मैं केवल नदी तो रह नहीं गई । मैं तो तुम्हारी प्रवहमान दुष्कीर्ति हूँ । समुद्र भले ही रिक्त हो जायँ; तुम्हारी गंगा, यमुना, गोदावरी और सरस्वती—हाँ, सरस्वती तो सूख ही गई है—ये नदियाँ भले ही पृथिवीके मान-चित्रपरसे अदृश्य हो जायँ, फिर भी मैं तो रहूँगी ही । पापोंकी छाया भला कभी लुप्त हो सकती है ? यह तो हजारों-लाखों वर्षोंसे तुम्हारा पीछा करती चली आ रही है । अब तुम्हारा सायंकाल आ पहुँचा । तुम्हारे प्रतापका सूर्य अस्त होना

चाहता है। छाया भी घनी और लम्बी होती जा रही है। धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते वह तुम्हें प्रस लेगी। फिर कभी तुम्हारा उदय नहीं होगा।

मैं तो फिर भी बहती ही रहूँगी। किन्तु आज मेरे हृदयमें एकाएक उबाल-सा आने लगा है। मेरी लहरियाँ अनिर्वचनाय वेदनामें तड़पकर चट्टानोंपर फन पटक रही हैं। हिमवानकी ये गगनचुम्बिनी चोटियाँ आज मुझे उकसा रही हैं—कह दे न, आज सारे विश्वको अपने रहस्यकी कहानी कह दे—सदियोंसे जो कालानल तेरे वक्षमें सुलग रहा है, आज भभककर जल जाने दे उसे। तो, सुनो। आज तुम्हारी मृत्युकी वेला है। मैं भी अपनी तरंगोंपर तुम्हारे नाशकी रागिनी छेड़ती हूँ—

वह समय था आजसे हजारों....नहीं, तबसे आज तकके समयको नाश नहीं जा सकता। समयकी नाप तो तुम्हारा कलका ही आविष्कार है। इतनी धुंध चढ़ चुकी है कि गिनतीमें उसे बाँधा नहीं जा सकता। वह समय था, जब कि मानवी समानताके प्राकृतिक नियमोंसे उठकर तुमने अपने-आपको ब्राह्मणकी उपाधि दी। दूसरोंसे कहने लगे, हम भू-देव हैं। एक प्रकारके देवता तो अन्तरिक्षमें रहते थे। उन्हें तुम्हारी ही स्वार्थमयी कल्पनाने प्रसव किया था। वे एक, दो, चार और दससे बढ़कर धीरे-धीरे तेतीस कोटिभी संख्याको प्राप्त हो चुके थे। चर्म-चक्षुओंसे दिखाई देनेवाले दूसरे देवता तुम स्वयं बन बैठे। तुमने अपने-आपको अन्तरिक्षवासी देवताओंका दलाल बताया। भेड़ों और बकरियोंसे भी भोले मनुष्य इस छलनामें आ गए। वेदोंको तुमने निजी संपत्ति बना लिया। विद्या तुम्हारे पास थी। अखण्ड ज्ञानका दीपक तुमने अपने घरमें जा छिपाया। तुम नहीं चाहते थे कि इतर मनुष्य भी तुम्हारे ज्ञान-भाण्डारमेंसे अपना-अपना भाग ले सकें। तुमने

घोपणा कर दी कि जो ब्रह्मको जानता है, वही ब्राह्मण है। बेचारा ब्रह्म तो तुम्हारी कसी हुई टेंटमें बँधा पड़ा था ! उसे दूसरा कोई जाने ता कैसे ?

उसी समय दो मनुष्य उठे। ईश्वरके घरसे बुद्धिका थोड़ा-सा अतिरिक्त भाग उन्हें मिला हुआ था। जगतके ऊपर तुम्हारा बौद्धिक एकाधिपत्य उन्हें अच्छा न लगा। वे विद्रोह कर बैठे। एक था विश्वामित्र, दूसरा त्रिशंकु। उन्हें उस समयका संसार क्या कहकर पुकारता था, यह कोई नहीं जानता। मुझ निरपराधको तुमने जैसे कर्मनासा कह दिया, वैसे ही उनमेंसे एकको विश्वका अमित्र और दूसरेको त्रि-शंकु कहते भी तुन्हें देर न लगी। दोनों क्षत्रिय थे, दोनों यथार्थ राजा। दिग्विजय करके लाते और तुम्हारी व्यवस्थाओंके अनुसार तुन्हीं लोगोंको सर्वस्व दान करके स्वयं मिट्टीके पात्रोंमें जल पिया करते थे।

सबसे पहले विश्वामित्रको तुम्हारे पाखण्डपर सन्देह हुआ। उन्होंने कहा—“मैं भी ब्राह्मण बनूँगा।” शस्त्र-व्यवसायपर आस्था नहीं रह गई थी। प्रत्यक्ष अनुभव था कि हिंसासे दुगुनी हिंसाकी उत्पत्ति होती है। अगणित देशों और जनपदोंको उन्होंने जीता था। वहाँकी जनता उनके नामसे काँपती थी। किन्तु क्रूरकर्मा क्षत्रियके प्रति उनके हृदयोंमें स्निग्धता लेश-मात्रको नहीं थी। विश्वामित्र हृदयोंपर राज्य करना चाहते थे। एक दिन उन्होंने अस्त्र शस्त्र एक ओर डाल दिए और हिमालयकी निर्जन उपत्यकाओंमें तपस्या करने चले गए—“मैं ब्राह्मण बनूँगा। ब्रह्मको जानकर रहूँगा। हिंसामें कोई बल नहीं है। ब्रह्म-तेजको प्राप्त करके मैं संसारमें अहिंसा-धर्मका प्रचार करूँगा।”

तुम्हारे आसन डोल उठे। अन्ध-विश्वास और मिथ्या आडम्बरकी बालू पर तुमने प्रभुताका प्रासाद बनाया था। संज्ञाकी पहली फूँकमें हिल

उठी उसकी नीब । फिर देखो तुम्हारे प्रपंच । विश्वामित्रको डिगानेके लिए तुमने क्या नहीं किया ? वेद्याएँ भेजीं कि सामान्य पशु-प्रवृत्तिको जगाकर उसे पथभ्रष्ट कर दिया जाय । छटनाका पर्दा उठा कि वह फिर तपस्या करने लगा । तुमने संधि करनी चाही—“भई, लो, आजसे तुम ऋषि कहे जाओगे । राजर्षि सही—महर्षि सही । परन्तु हमारे ब्रह्मको कृपा करके हमारे ही पास रहने दो । वह हमारा अन्न है, तुम्हें उससे कोई विशेष लाभ नहीं ।” विश्वामित्र हठधर्मी थे । अकड़ गए “मैं तो ब्राह्मण बनूँगा ।”

उसी समय रघुके वंशमें त्रिशंकु हुआ । उसकी आत्मामें भी अन्दर ही अन्दर संघर्ष चर रहा था । तुम्हारे समस्त आदेशोंको सिर नीचा किए वह मानता । तुमने कहा—“उठाओ धनुष, कोई नया देश जीत कर लाओ । विश्वजित् यज्ञ करो । ब्राह्मणोंको सर्वस्व दान दो । स्वर्ग मिलेगा ।” जो तुम कहते, वह करता जाता । किन्तु तुम्हारे कल्पित स्वर्गके लोभसे उसकी आस्था डिग चली थी । इसी देशमें समय-समयपर कई चावीक भी उत्पन्न हो चुके थे । वे लोग स्पष्ट कह देते—यह संसार देहमें प्राणोंके रहनेतक है, मरनेके उपरान्त न स्वर्ग है न नरक । स्वर्गके इन दलालोंसे कहो—हमें सदेह स्वर्ग भेजो, तो जानें !

त्रिशंकुको बात लग गई । जँचनेवाली बात थी, इसीलिए । मरनेके उपरान्त कोई मनुष्य स्वर्ग देखकर पृथिवीपर स्वर्गके अस्तित्वकी घोषणा करने कभी लौटा हो, ऐसी कोई घटना इतिहासमें नहीं है । फिर भी स्वर्गके द्वारोंकी कुंजियाँ तुम्हारे पास थीं और तुम कहते ही जाते थे कि स्वर्ग है जी—अवश्य है ! नन्दन-कानन भी है, पारिजातके पुष्प भी हैं—मलयानिल, चिरन्तन वसन्त, अनन्त यौवना अजराएँ, अजरता, अमरता—! ये वस्तुएँ ऐसी थीं कि इनके मिथ्या आकर्षणमें पड़कर शता-

व्दियोंसे मनुष्यकी लार टपक रही थी। क्यों न लोग तुम्हारे दास बनते ? क्यों न तुम्हें दान-दक्षिणा और परिचर्यासे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करते ?

ब्राह्मणोंके मुखिया वशिष्ठ उन दिनों रघुवंशके पुरोहित थे। त्रिशंकु अतीव विनम्रताके साथ उनके आश्रममें पहुँचा। गुरुके समक्ष कठिनतासे भय और आशंकाको दबाकर बोला—“भगवन्, आपके आशीर्वादकी छायामें मैं और मेरे दोनों कुल सकुशल परमार्थ-लाभ कर रहे हैं। आपके आदेशोंपर निन्नानवे बार मैं अश्वमेध-यज्ञ भी कर चुका हूँ। केवल एक यज्ञ और सम्पन्न होनेपर मुझे इन्द्रत्वकी प्राप्ति...”

“शान्तं पापम्, शान्तं पापम् !” त्रिशंकुको एकाएक रोककर वशिष्ठ बोल उठे—“राजन्, इतनी अनियंत्रित महत्वाकांक्षा अच्छी नहीं होती। सन्नागरा पृथ्वीके आप स्वामी हैं, फिर भी सन्तोष नहीं है? पदका लोभ तो महान् अकल्याणकारी होता है। भगवन् इन्द्र यज्ञोंके स्वामी हैं। उन्हींके प्रसादसे पर्जन्य वरसता और पृथिवी शस्य उत्पन्न करती है। वे सइस्त्राक्ष हैं, अन्तर्यामी हैं। आपको निन्नानवे अश्वमेधोंका पुण्य देनेवाले वही हैं। सौवाँ यज्ञ करनेपर क्या आप उनकी कृपालुताको चुनौती नहीं दे रहे हैं?”

त्रिशंकुने कहा—“भगवन्, आपने तथा आपके भी पूर्ववर्ती गुरुजनोंने यह व्यवस्था कर दी है कि असन्तुष्ट ब्राह्मण और संतुष्ट राजा नष्ट हो जायेंगे। मैंने निन्नानवे बार धनुष्यपर प्रत्यंचा चढ़ाकर पृथिवीको जीता, सो आपकी आज्ञासे। प्रत्येक बार मैं जिस दिशामें गया, उसी ओर शत्रु-जनताके हाहाकारसे ब्रह्माण्ड काँप उठा। असंख्य नवयुवतियाँ विधवा बनीं, माताएँ निःसन्तान हो गईं, बालक अनाथ हो गए। गाँवके-गाँव उजड़े; जनपदके-जनपद मरुस्थलोंमें परिणत हो गए। प्रत्येक बार कुबेरके कोषको भी लजा देनेवाली धनराशि मैं छूटकर

लाया। किसके लिए? क्या कोई यह कह सकता है कि उसमेंसे रत्ती-भर भी सुवर्ण अथवा चाँदी मैंने अपने हेतु व्यय किया है? प्रत्येक बार अनासक्त होकर मैंने उस निधिको ब्राह्मणोंमें वितरण कर दिया। आप कहेंगे, यह तुम्हारा कर्तव्य था। प्रत्येक जनको अपना कर्तव्य निस्पृह होकर निवाहना चाहिए। परन्तु, महामुने, अत्यंत निस्पृह होकर कोई भी मनुष्य कोई कार्य नहीं कर सकता। इच्छा और आकांक्षा ही कार्योंकी गति-शक्ति होती हैं। यदि आप लोग मुझे यह न बताते कि युद्ध और अश्वमेध करनेसे पुण्यलाभ और पुण्यलाभसे स्वर्ग प्राप्ति होती है, तो इन क्रूर कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी मुझे प्रेरणा होती ही क्यों? आप क्या यह समझते हैं कि इतनी बार नाश और मृत्युका उन्मुक्त ताण्डव होते देख मुझे पीड़ा नहीं हुई होगी? वसुन्धराको मनुष्य-रक्तसे नहलाकर मेरी छाती क्या विदीर्ण नहीं हुई होगी? कई बार मनमें आया कि फेंक दूँ यह धनुष्य और बाण। कौषेय धारणकर निकल चढ़ूँ इस बृहत् संसारमें। प्रत्येक मृतवत्सा जननीके चरणोंपर गिरकर कहूँ—‘मुझे मार डालो माँ, मैंने ही तुम्हारे वीर पुत्रको डंसा है।’ प्रत्येक विधवा युवतीसे कहूँ—‘मैं हूँ बहन, वह पापाचारी, जिसने तुम्हारे ललाटके सौभाग्य-सिन्दूरको असमयमें ही पोंछ डाला है। आओ, मुझपर धिक्कारके अंगार बरसाओ; जला डालो अपने आक्रोशसे मुझे।’ यदि वैसा ही कर सकता, तो आज तक आत्माको चिरशान्ति प्राप्त हो गई होती।”

वशिष्ठ हैंसे। बोले—“राजन्, आज अकारण ही आपको चित्त-भ्रम हो गया है। क्षत्रियके मुँहसे शान्ति, अहिंसा और संन्यासकी बातें शोभा नहीं देती। जब आप वयोवृद्ध हो चुकेंगे, बाहुओंमें धनुष्य चढ़ानेका सामर्थ्य नहीं रह जायगा, तब युवा पुत्रके कन्धोंपर राज्य-भार

रखकर आप इसी आश्रममें आयँगे। तभी आपको निष्कृति पानेका अधिकार होगा।”

त्रिशंकुने कहा—“गुरुदेव, इससे फिर भी मौलिक समस्याका समाधान तो नहीं हो सका। मेरे पश्चात् मेरे वंशधर फिर उसी कहानी—आक्रमण, युद्ध, हत्या, विजय, पराजय—को दुहरायँगे। मुझे तो यही समझमें नहीं आता कि मेरे पूर्वजों, मेरे और मेरे पुत्र-पौत्रादिकोंके असंख्य बार जीत लेनेपर भी यह पृथिवी अविजित ही क्यों रह जाती है ! निम्नानवे बार स्वयं मैंने संसारका कोई भी कोना पराजित किए बिना नहीं छोड़ा। फिर कुछ ही वर्षों पश्चात् नए प्रयाणकी आवश्यकता क्यों होती है ? एक बार वशमें की हुई जनता जन्म-जन्मान्तर तक क्यों नहीं हमारे अधीन रहती ? भगवन्, यही शंकाएँ बारम्बार मुझे कोसती हैं। मैं समझता हूँ कि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्राप्त की हुई विजय सच्ची नहीं है। सत्य तो चिरन्तन है—स्थायी है। यह विजय अस्थायी है, अतएव असत्य है। और महामुने, एक ही उत्तर मुझे चाहिए कि जो वस्तु मूलमें असत्य है, वह पुण्यका कारण और स्वर्ग-प्राप्तिका साधन कैसे बन सकती है ?”

वसिष्ठ बोले—“राजन्, जो वस्तु परम्परासे चली आई है, जिसे हमारे पूर्वजोंने अनुमत किया है और जिसका अनुचरण आपके पुण्यात्मा पितृगण अविचल होकर करते आए हैं, वह असत्य कैसे हो सकती है ? सत्यकी परिभाषा क्या है ? जो प्रथा अनादिकालसे चली आ रही है, वही सत्य बन जाती है। आप क्षत्रिय हैं। क्षत्रियोंका धर्म है युद्ध। निश्चिन्त होकर अपना अकलुष धर्म निवाहिए। स्वर्गका राजमार्ग आपके लिए प्रशस्त है। इस लोकमें कर्म-निर्वाणको प्राप्त होकर अखण्ड ऐश्वर्यके भागी बनिए। आशीर्वाद देना हूँ...”

त्रिशंकु स्वाभाविक नम्रतावश सिर नीचा किए चुपचाप बैठे रहे। उनके मनको सान्त्वना नहीं मिली। उन्हें मौन देखकर वशिष्ठ बोले—“ राजन्, क्या अब भी कोई शंका है ? ”

त्रिशंकुने कहा—“ महर्षे, स्वर्ग और नरकके अस्तित्वपरसे विश्वास उठा जा रहा है। इतनी निर्दोष अनावश्यक हत्याओंके फलस्वरूप जो स्वर्ग क्षत्रियोंको मिलता है, सोचता हूँ, कहीं वही तो नरक नहीं है। पिछले कई वर्षोंसे मेरे इन हाथोंने इतने प्राण लिए होंगे कि जितने आकाशमें तारे नहीं हैं। मुझे विश्वास नहीं है कि मेरे पैरोंके स्पर्शसे स्वर्गकी धरित्री सिकुड़ नहीं जायगी; मेरे श्वास-प्रश्वाससे नन्दन-कानन सूखकर जल नहीं जायगा; मुझे देखते ही उर्वशी और रम्भा चीत्कार नहीं कर उठेंगी। जिन करोड़ों मनुष्योंको मैंने आजन्म दुःखी बना दिया है, उन सबका सामूहिक शाप यदि मुझे नरक नहीं भेज सकता तो अकेले आपका आशीर्वाद मुझे स्वर्गका भागी कैसे बना देगा ? यदि सचमुच ही कहीं स्वर्ग है, तो चाहता हूँ कि आपके प्रतापसे इन्हीं आँखों उसे देख लूँ। एक ही क्षणके लिए सही। उसके उपरान्त कल्पान्त तक नरकमें रहनेके लिए मैं उद्यत हूँ। ”

वशिष्ठको ईषत् क्रोध हो आया। तीखे स्वरमें वे बोले—“ राजन्, कुतर्ककी मर्यादा यहाँ अब समाप्त हो जाती है। वेद और शास्त्रके प्रमाणों तथा हम-जैसे तपःपूत ब्राह्मणोंके वचनोंपर क्षणमात्र भी अविश्वास करनेसे आपके आज तक किए समस्त पुण्य भस्म हो गये हैं। स्वर्ग तो दूर रहा, आपको अगणित वर्षों तक रौरवमें निवास करना पड़ेगा। ”

और कोई समय होता, तो मारे आतंकके राजा कोयला बन गया होता। किन्तु शंका और अविश्वासका जन्म हृदयमें हो चुका था। शंका क्रान्तियोंकी जननी है। मनुष्यके हृदयमें एक बार प्रश्न उठा—

‘क्यों ?’ बस, सदियोंसे खड़ी हुई परम्पराकी दीवारें ढह पड़ती हैं। शंकराचार्य के समक्ष अन्ध-विश्वास, पाप-पुण्य, धर्माधर्म सब भाग खड़े होते हैं। त्रिशंकुने देखा, वशिष्ठके शाप देनेपर भी पृथ्वी ज्यों-की-न्यों निश्चल है; वायु वैसी ही बह रही है; पेड़ोंपर पत्ते उसी प्रकार हरे-हरे हैं; दूरपर खड़ा परिजनवर्ग उसी प्रकार सादर-ससम्भ्रम उसके प्रत्यागमनकी बाट जोह रहा है; अनेक युद्धोंमें पार्श्ववर्ती होकर शत्रुओंके प्रहार सहनेवाला सेनापति उसी भाँति चञ्चल-सा निश्चल निर्विकार खड़ा है। झुका हुआ हृदय मानो जी उठा। गुरुके चरणोंकी धूलि माथेपर लगाकर वह बोला—“भगवन्, जिस प्रकार आपके अगणित आशीर्वाद मुझे सदा शिरोधार्य रहे हैं, यह शाप भी उसी प्रकार स्वीकार है। यदि कहीं नरक है, तो उसे भी सदेह देखूँगा। स्वर्ग यदि नहीं मिला, तो इसी पृथ्वीपर उसकी सृष्टि करूँगा।”

भोल! क्षत्रिय कहनेको तो कह गया; किन्तु उसे बौद्धिक सहायताकी फिर भी अपेक्षा थी। उन्हीं दिनों विश्वामित्रकी तपःकीर्ति संसारके कोने-कोनेमें व्याप्त हो रही थी। कछुएकी भाँति अपने अंग-प्रत्यंग समेटे हुए तुम्हारे समाजमें एक उथल-पुथल मची हुई थी। देखते-ही-देखते एक क्षत्रिय ब्राह्मण बना जा रहा था। तुम्हारे सारे प्रपञ्च व्यर्थ हो रहे थे। उसी समय उससे जा मिला त्रिशंकु। जैसे अग्निको वायुका सहयोग मिल गया—निराकार ब्रह्मको साकार स्वरूप देने जैसे प्रकृति आ मिली, ज्ञानको जैसे वाणी मिली, सिद्धान्तको जैसे क्रियात्मकता।

विश्वामित्रने अत्यन्त समवेदनाके साथ त्रिशंकुकी कथा सुनी। वर्षोंकी तपस्याके उपरान्त वे स्वयं इसी प्रकारके संघर्षोंसे ऊपर उठ सके थे। बोले—“राजन्, सदेह स्वर्ग देखनेकी आपकी अभिलाषा अस्वा-

भाविक नहीं है । किन्तु स्वर्ग है या नहीं—इस विषयमें कुछ कहना मैं अधिकारसे बाहर समझता हूँ; क्योंकि उसपर उन्हीं लोगोंका एकाधिपत्य है, जिनके कह देने-मात्रसे मैं ब्राह्मण हो सकता हूँ—नहीं भी हो सकता । आप इस पृथिवीकी बात कहिए, मैं आपकी प्रत्येक शंकाका निराकरण करूँगा । पूछिए, नरक कहाँ है ? मैं कहूँगा, हमारी पृथ्वीपर । इतना दुःख, अभाव, दारिद्र्य और कहाँ देखनेको मिलेगा ? कहाँ होंगे आप-जैसे वीर क्षत्रिय, जो निम्नानवे बार मनुष्योंके रुधिरसे होली खेलकर थोड़े-से अल्प-संख्यक वर्गकी तुष्टि करते हों ? युद्धके विरत होनेपर, किसी निर्जन संध्याके झिलमिल प्रकाशमें, देखा है रणस्थलका दृश्य ? जमे हुए रक्तके छोटे-बड़े तालाब, कटे हुए असंख्य सिर, सफेद निस्तेज आँखें, खुली हुई और किसीकी बन्द, किसीकी जीभ आमूल बाहर निकली हुई, मृत शरीरोंके पार्श्वमें मरते हुए मनुष्योंका आर्त्तनाद, जीवन और मृत्युकी जुजुत्सु, सियार, कौवे, हड्डियाँ, चद-चट, खद-खट—रोरव अथवा कुम्भी-पाक इससे अधिक भीषण और नरकके दूत आप-जैसे विश्वविजेताओंसे अधिक निर्दय तो नहीं होते होंगे । और कौन-से नरकमें हमारी पृथ्वीसे बढ़कर वर्ग-संघर्ष देखनेको मिलेगा ? करोड़ों मनुष्योंके दुःखके मूल्यमें कुछ सैकड़े व्यक्तियोंको सुख, ऐश्वर्य और शक्ति भोगनेको कहाँ मिलेगी ? पूछिए, तो क्या स्वर्ग भी इसी पृथिवीपर बनाया जाना सम्भव हो सकता है ? मैं कहूँगा—हाँ, अवश्य । इतने वर्षोंकी मेरी तपस्या इसी अर्थ काम आएगी । चलिए, आप और हम मिलकर एक पार्थिव स्वर्ग बनाएँ । जो स्वर्ग देखा नहीं, जो हमारी धरतीपर मनुष्योंद्वारा बनाया नहीं जा सकता, उसके विषयमें कुतर्क करना मैं उचित नहीं समझता । ”

आश्चर्यसे किर्कतव्यविमूढ़ होकर त्रिशंकु तपस्वीकी बातें सुनता रहा । इन्हीं बातोंपर तुम्हारे पाखण्डकी इति और नये युगका प्रारम्भ होना था । इन्हींपर संसारमें एक ऐसे आदर्शकी स्थापना होनी थी, जिसे

तुम्हारे सहस्रों भगीरथ प्रयत्न भी डिगा नहीं सकते थे। जिस स्वर्गका निर्माण तुम नहीं कर सकते थे और स्वयं तुम्हें विश्वास न था कि कहीं स्वर्ग बनाया भी जा सकता है; किन्तु जिसकी कल्पना-मात्र हो लेकर तुमने मनुष्योंको सदा ललचाया और छलकर स्वार्थोंकी पूर्ति की, आज त्रिशंकुके प्रश्नके उत्तरमें उसी स्वर्गको तुम्हारे देखते-देखते पृथ्वीपर उतर आना था। क्या हुआ जो तुमने अपने प्रपंचोंद्वारा उसे रहने नहीं दिया ? एक बार उस सत्यकी स्थापना तो हो गई कि स्वर्ग काल्पनिक नहीं, यथार्थ है, और वह बिना किसी असाधारण शक्तिके निर्मित हो सकता है। प्रत्येक कृषक, प्रत्येक श्रमजीवी अपने ही हाथों उसकी सृष्टि कर सकता है। इस कार्यमें उसे तुम्हारी सहायता और दलालीकी आवश्यकता नहीं।

इसी पृथ्वीपर, इसी देशमें, एकान्त जनपद खोजकर विश्वामित्र और त्रिशंकुने स्वर्गका नींव डाली। जो लोग तुम्हारे अत्याचारोंसे ऊब चुके थे, वे सब अपना-अपना घर छोड़ वहाँ आकर बस गए। देश-देशके किसान आए; क्योंकि यहाँ जिस धरतीको वे जोतते, उसके वही स्वामी माने जाने थे। असंख्य श्रमजीवियोंने वहाँ आकर नए-नए यंत्रालय और उद्योगशालाएँ खोल दीं; क्योंकि इस जनपदमें उनके श्रमका शोषण नहीं होता था। समय और परिश्रमको वही मूल्य प्राप्त था, जो धनको। एक घड़ी कठिन परिश्रम करके प्रत्येक श्रमजीवी परिवारके उदर-पोषणके लिए पर्याप्त साधन बटोर लेता था। उस देशमें न तो कोई धनवान् था, न कोई निर्धन। शक्तिका संचय किसी एक व्यक्ति अथवा वर्गके हाथमें नहीं था। प्रत्येक मनुष्य समाजके प्रति उत्तरदायी तो था, किन्तु वैयक्तिक विषयोंमें स्वतन्त्र था।

जनताके मतसे विश्वामित्रने त्रिशंकुको वहाँका जननायक बना दिया।

इसके उपरान्त, फिर कभी न लौटनेके लिए कहकर, वे चले गए; क्योंकि उनका जीवनोद्देश्य यहीं तक सीमित नहीं था। पृथिवीके एक खण्ड-मात्रको स्वर्ग बना देनेसे समस्त मानवजाका उद्धार होना संभव नहीं। विश्वामित्र इसी लक्ष्यको लेकर उप्रतर तपस्या करने चले गए।

तब तुम्हारे षड्यंत्रोंका सूत्रपात हुआ। त्रिशंकुके स्वर्गका बना रहना तुम्हारे हितोंको आघात पहुँचाता। प्रत्यक्षको छोड़कर कल्पित स्वर्गकी ओर तुम्हारे यजमानोंको आकर्षण कम होने लगा था। तुमने पहले तो सेनाओं द्वारा विजय करना चाहा। इसमें तुम्हें सफलता नहीं मिली; क्योंकि तुम्हारे सैनिक भूमिके जिस चप्पेपर पैर रखते, वहींपर उन्हें घोरतम विरोधका सामना करना पड़ता। भूमिके स्वामी स्वयं कृषक थे। एक-एक अंगुल धरतीके लिए दस-दस सिर कटा देते थे। तुम्हारे सैनिक तुम्हारे लिए लड़ते और उस देशकी सेना अपनी ही स्वतंत्रताकी रक्षाके लिए जूझती थी। अन्तमें जब तुम सफल नहीं हुए, तो कूटनीतिका तुमने आश्रय लिया।

जाती बार विश्वामित्र कह गए थे कि हमारे इस स्वर्गमें किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय-विशेषको अनुग्रह प्राप्त नहीं होगा। अनेक देशोंके कृषक और श्रमजीवी उस जनपदमें आ बसे थे। कुछ विष्णुके उपासक, कुछ अनार्य-प्रथाओंके अनुसार वृक्ष, सर्प इत्यादिकी पूजा किया करते। सुदूर पारसीक देशके किसान अग्निको अपना देवता मानते। किन्तु विभिन्न धार्मिक विद्वांस सामाजिक कर्त्तव्योंमें किसी प्रकारकी अड़चन नहीं डालते थे।

तुमने सोचा, धर्मोंकी यह विभिन्नता तुम्हारी सहायक बनेगी। और तुमने ठीक सोचा। षड्यंत्रोंद्वारा क्रान्तिकी धाराको उल्ट देनेमें तुम्हारी कहीं तुलना नहीं हो सकती। तुमने अपने गुप्तचर भेजे। उन्होंने छिपे-

छिपे जनतामें सम्प्रदायवादियोंके दल बनाने प्रारम्भ किए। स्वर्गमें इस प्रकारके विषका प्रसार देख त्रिशंकु घबराया। उसने प्रयत्न किया कि किसी प्रकार जनपदमें शान्ति स्थिर रहे, किन्तु सम्प्रदायवादकी अग्नि एक बार सुलगनेपर पूरे राष्ट्रको भस्म किए बिना बुझती नहीं।

मुह्तारी पूर्ण विजय हुई। त्रिशंकुके स्वर्गमें थोड़े ही समयके अन्दर भयंकर झंझावात उठा और उसने क्रान्तिके वृक्षको आमूल उखाड़ दिया। शैवों और वैष्णवोंमें, शाक्तों और अग्निपूजकोंमें, आर्यों और अनार्योंमें परस्पर युद्ध छिड़ गया। मानव-प्रकृतिके अन्दर अकस्मात् पाशवी हिंसाका प्रवेश हुआ। किसान अपनी धरतीको भूल गए और श्रमजीवी हँसिया-हथौड़ेको। त्रिशंकुका स्वर्ग हजारों-लाखों निर्दोष मनुष्योंके रक्तसे नहा उठा। उसकी विजय-यात्राओंमें रुधिरकी नदियाँ इतनी पृथुल नहीं बही होंगी; विनाशका ताण्डव इतना उल्लूखल नहीं हुआ होगा। मनुष्य हिंस्र पशुओंसे भी अधिक रक्तपिपासु हो उठा। किसानने किसानके खेत जला दिये। एक श्रमजीवीने दूसरेके घरमें आग लगा दी! माँ-बापकी आँखोंके सामने उनके दुधमुँहे बच्चोंकी बोटी-बोटी काटकर कड़ाहीमें भूनकर कुत्तोंको खिलाई गईं! पिताके समक्ष युवती पुत्रीको नग्न कर दिया! पतिके सामने पत्नीकी लज्जासे पाशवी होलियाँ खेलीं! हजारोंकी संख्यामें कुलवधुओंका नग्न, निर्लज्ज प्रदर्शन किया!

मैं एक छोटी-सी नदी, मैं भूला क्या जानूँ इस इतिहासको! परन्तु त्रिशंकुके स्वर्गसे पाँच नदियाँ इसी ओरको बहकर आती थीं। मेरा उनका प्रतिक्षण मिलन होता। इधर उनकी स्फटिक-सी निर्मल धाराएँ रक्ताक्त हो उठी थीं। सड़ी-गली, विकृत लार्शें सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें बहती-उतराती चली आतीं। मुझे विवश होकर उनका स्पर्श करना पड़ता। मेरे सामर्थ्यकी बात होती, तो मैं उल्टी बहकर हिमालयकी

गुफाओंमें सिर छिपाकर, कल्पान्त तक सिसक-सिसककर प्राण दे देती ।

मैंने तब एक नदीसे पूछा—“बहन, बात क्या है ? क्या तुम्हारे देशमें कोई भीषण युद्ध हो गया ? उधर तो सुना, मनुष्योंने स्वर्ग बना लिया है । फिर यह रक्त और ये मृत शरीर तुम कहाँसे बहाकर ला रही हो ? ”

तब रुधिर मिले आँसुओंकी धाराओंके साथ-साथ उस नदीने मुझे तुम्हारे कुटुम्बोंकी कहानी सुनाई । तुम्हारी बन आई । ओ मानवताके शत्रुओ ! तुम्हें इतनेसे ही कैसे सन्तोष होता ? फिर तुमने उस स्वर्गकी राखपर बैठकर नृत्य किया । हँस-हँसकर, तालियाँ पीट-पीटकर तुमने संसारसे कहा—‘ वह लटक गया त्रिशंकु अधरमें—सदेह स्वर्ग जानेका चाव था उसे ! अब औंधेमुँह झूल रहा है—लार टपक रही है स्वर्ग जानेके लिए । ’

तब तुम्हारी दृष्टि मुझपर गई । मैं एक छोटी-सी नदी, तुम्हारा क्या बिगाड़ा था मैंने ? किन्तु विजयके मदमें जब तुम मनुष्यका उपहास करनेपर तुले हुए थे, तो किसके मर्मको कैसी पीड़ा पहुँच सकती है, इसका ध्यान तुम्हें न था । तुमने और तुम्हारे नृशंस अनुचरोंने अट्टहास करके कहा—‘ और त्रिशंकुकी लारसे यह नदी बनी है कर्मनासा ! ’ झूठा इतिहास तुमने गढ़ा । तुम नहीं चाहते थे कि भविष्यका मानव त्रिशंकुकी यथार्थ कहानीको जान सके ।

आज तो मेरी वाणी खुल पड़ी है । मैं युग-युगसे मौन बहती चली आ रही हूँ—अब चुप नहीं बैठूँगी । संसारके प्रत्येक मनुष्यको कुरेद-कुरेदकर कहूँगी कि एक दिन तुमने कितना बड़ा अपमान, जघन्य

उपहास उसका किया था। कहूँगी कि किस प्रकार मानव-स्वतन्त्रताके भूखे त्रिशंकुके सामनेसे परोसी हुई थाली तुम प्रवंचकोंने छीन ली; कि किस प्रकार मनुष्यके अभाव और अतृप्तिकी बहती हुई मूर्तिमान निराशाको तुमने मेरे साथ संयुक्त करके मानो उसे अमर बना दिया।

मैं तब तक बहती रहूँगी, जब तक मनुष्यके इतिहाससे अतृप्ति नहीं उठ जाती, जब तक त्रिशंकुकी लार बहनी बन्द नहीं होती, जब तक मुझे कर्मनासा नामसे पुकारना स्थगित नहीं हो जाता। मैं फिर भी बहती रहूँगी, जब त्रिशंकुका स्वर्ग अकस्मात् व्याप्त होकर समस्त विश्वको छा लेगा; जब मेरी लहरियोंमें मधु घुलने लगेगा; मधुसे लदी वायु बहेगी; सातों सिंधु मधुका क्षरण करेंगे; जब रात और दिन मधुमय होंगे; पृथिवीके सारे रजःकण मधु लिपटे हो जायँगे; यह आकाश मधुमय होगा; हमारे पिता वनस्पति मधु-फल देंगे....।

---

## सूतपुत्र

“कभी नहीं, देवि, यह कभी नहीं हो सकता । आज अपने इन्दी-वरश्याम विस्फारित नेत्रोंसे आँसुओंकी भागीरथी बहाकर तुमने कहा है— ‘बेटा कर्ण, केवल एक बार मुझे माँ कहकर पुकारो !’ किन्तु जो सम्भव नहीं है, उसपर यह निष्फल आग्रह किस लिए ? तुम्हें माताके सम्बोधनसे विभूषित करनेवालोंकी संसारमें कमी नहीं है । तुम पाँच पुत्रोंकी माँ हो । आसमुद्रविस्तीर्णा इस पृथिवीकी स्वामिनी रह चुकी हो । राजमहिषीके तुम्हारे उस अस्तित्वको अनेक बार इस महादेशके कोटि-कोटि कण्ठोंसे ‘माँ’ की उपाधि मिली होगी । फिर भी तृप्ति नहीं हुई ? मुझ-जैसे कीट-क्षुद्र-लघु जीवसे इस शब्दका ऊच्चारण कराके तुम्हारी कौन-सी महत्ता बढ़ जायगी ? नहीं, देवि, राजराजेश्वरी होकर भी इतनी सर्वग्रासिनी महत्त्वाकांक्षा क्या अच्छी होती है ?

“तनिक सोचो तो—कुरुक्षेत्रसे कई योजन दूर, अंगदेशके राज-प्रासादमें, तुलसी-तरुके नीचे अखण्ड घृतदीपक जलाकर, घुटनोंके बल झुकी हुई, बद्धप्रणामाञ्जलि एक वृद्धा कुछ बड़बड़ा रही है । उसकी मुँदी हुई आँखोंसे श्रावण और भाद्रपदकी जो अजस्र धाराएँ बह रही हैं, वे रोके नहीं रुकती । उसके कपोलोंपर अनावृष्टिपीडिता पृथिवीकी दरारोंके समान असंख्य झुरियाँ पड़ी हुई हैं । तीव्र अन्तर्वेदनाकी लहरें बारम्बार उन झुरियोंपर सिर पटक-पटककर खो जाती हैं । दाहिनी ओर अग्निपात्रमें-

से कालागुरुकी पतली-सी धूमलेखा दक्षिणावर्त होकर तुलसीकी परिक्रमा करती हुई आकाशमें खो जाती है। पत्तोंके संपुटमें रखे हुए नैवेद्य-निमित्तिक दो-चार फल किसी अदृष्टदेवताकी उपेक्षाके पात्र बने हुए हैं। वह बड़बड़ा रही है—स्नेह निरक्षर होता है, महादेवि, वह वेदकी ऋचाओंमें अभिव्यक्ति नहीं पाता, ऋषियोंके तपःपूत मन्त्रोंसे उसका अभिषेक नहीं किया जा सकता—सीधी-सादी लोक-भाषामें अपने देवतासे वह कह रही है—‘हे भगवान्, मेरा पुत्र मुझीको लौटा दो ? युद्धकी यह अग्नि क्यों सुलगा दी, देवता ? यह तो राजा-महाराजाओं, धनिकों और शक्तिशालियोंका खेल है। हम जैसे अकिंचन श्रमिकोंका उसमें क्या स्वार्थ ? न-जाने किस दुर्बुद्धिके वशीभूत होकर दुर्योधनके दिए हुए अंगदेशके राज्यको उसने स्वीकार कर लिया ! सत्ताकी यह भूख क्यों जगी मेरे पुत्रमें ? लौटा दो उसे गोदमें, नारायण ! आज वह हजारों शत्रुओंसे घिरा हुआ अपने प्राणोंको बचा रहा होगा—दूसरोंके प्राण ले रहा होगा। उसके सुकुमार शरीरपर तीरों, तलवारों और बल्लियोंके घाव हो रहे होंगे। वह बुद्धिहीन बालक मुझ-जैसी कितनी ही भाग्यहीन माताओंको निःसन्तान बना रहा होगा।’ रहने दो, महारानी, उस स्नेहकातरा बुद्धियाके सदसद्विवेक-शून्य इन शब्दोंको सुनाकर तुममें अरुचि उत्पन्न नहीं करूँगा मैं। गँवारकी ममता सुनकर तुम्हारे हृदयमें उपहासकी गुदगुदी उठ रही होगी। तुम वीरप्रसू हो—वीरांगना हो। सायं-प्रातः रुधिरमें रँगी तलवारोंसे तुम्हारा अभिवादन होता है। वीर पुत्रोंके शरीरपर घावोंको देखकर तुम फूल उठती हो। जितनी अधिक संख्यामें तुम्हारे पुत्र मनुष्योंके प्राण हरते हैं, हर्षातिरेककी उतनी ही मात्रा तुम्हें रोमांचित करती है। अंगदेशकी उस बुद्धियाके कायरपनको सुनकर तुम्हें घृणा होगी। उसने

इस तभी देखा-सुना ही नहीं। सदाके शान्त गँवई-गाँवकी एक झोंप-ड़ा रहनेवाली—उसे क्या पता कि मनुष्य-मनुष्यके बीच युद्धकी भी आवश्यकता होती है—एक दूसरेके प्राण लेनेकी अनिवार्य होड़ लग जाती है।

“तनिक सोचो तो, वह वृद्धा है कौन? अधिरथ सूतकी घावाली—महावीर, महारथी, कौरवोंके महाबलाधिकृत मुझ अंगराज कर्णकी माता। राधा उसका नाम है। महादेवि, भिक्षा माँगनेवालेको मैं प्राण तक दे सकता हूँ। मेरे पास वैसे है ही क्या? अंगदेशका राज्य भेटमें अनायास मिल गया था। मित्यते समय विशेष सुख नहीं हुआ—न जाती बार मुझे दुःख होगा। एक दैवी कवच मिला था, सो तुम्हारे पुत्रोंके हितैषी देवराज इन्द्र माँगकर ले गए। मैं स्वयं कितना अपदार्थ, कितना अकिंचन हूँ, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। इस शरीरमें तुच्छ प्राण हैं, जिनपर मेरा सम्पूर्ण अधिकार है। कोई माँगे, तो उसी क्षण निस्स-कोच दे दूँगा। किन्तु मेरे मुँहसे ‘माँ’ कहलानेका एकाधिकार जो राधाने उभार्जित किया है, उसका दान नहीं किया जा सकता। जो संभव नहीं है, वह नहीं किया जा सकता, देवि !

“आज अतीतकी एक रंगीन रहस्यमय आख्यायिका सुनाकर तुमने मनकी सुषुप्त वेदनाओंको कोड़े मारकर जगा दिया है। मैं सूतपुत्र ही अच्छा था। संसार जिस रूपमें मुझे मान चुका है, उसी रूपमें मेरे जीवनकी सार्थकता निहित थी। उसी रूपकी पाषाणशिलापर मैंने अह-न्ताका विशाल जयस्तम्भ निर्मित किया था। जो महान् कहलते हैं, उनमेंसे प्रत्येकने प्रयत्न किया कि ईंट-ईंट करके उस स्तम्भको भूमि-सात् कर दिया जाय। जीवन-भर तरल कालकूटके समान उन लोगोंके तिरस्कारको पीकर मुझे पचा लेना पड़ा। मैं जनमा इसीलिए कि निरन्तर

अपमानित होता रहूँ—जीवनकी सारी कटुता अपनेमें आत्मसात् कर दूँ। मैं उस भाग्यहीन मार्ग-देवताके समान हूँ, जिसपर प्रत्येक पथिक ईंट, रोड़ा, पत्थर, लकड़ी, जो-कुछ मिले, फेंककर चला जाता है और एक बार भी लौटकर नहीं देखता कि उपेक्षाके उस लक्ष्यहीन आघातसे कैसी तिलमिलाहट, कैसा हाहाकार उस देवताके हृदयमें उठ खड़ा होगा। प्रत्येकको अधिकार है—नहीं, अनिवार्य स्वतन्त्रता है कि कठोर-से-कठोर क्रूर-से-क्रूर आघात मुझपर कर ले। मैंने यह सब कुछ सहन किया है और निरन्तर सहन करता जा रहा हूँ। और अपमानके उसी कीचड़में मैंने अपना जीवन-कमल खिलाया है। तिरस्कारके प्रत्येक कणसे मेरी आत्मा पुष्ट हुई। कुछ लोग जिसे हेय समझते थे, वही वस्तु मेरे जीवनका महत्तम श्रेय बन गई। सूत-कुलमें जन्म लेना ही मेरे लिए अमृतका मानसरोवर भिन्न हुआ। उसीके शीतल तटपर मेरे व्यक्तित्वका दुर्द्धर्ष-कैलास उठ खड़ा हुआ था। मेरी जड़ें पाताल तक पहुँच चुकी थीं, जिन्हें सगरके साठ हजार पुत्र साठ युगोंमें भी खोदकर नहीं उखाड़ सकते। मेरे रजनशुभ्र शिखर आकाशकी निरभ्र नीलिमासे आँखमिचौनी खेचते थे। वहाँ तक संसारके इन थोड़े-से पाखण्डचारी व्यक्तियोंके हस्तावलेप पहुँच नहीं सकते। किन्तु आज एक क्षणमें, एक ही अप्रत्याशित आघातमें मेरा वह कैलास बालुका-निर्मित प्राचीरकी भाँति ढह गया है। तुमने आज मुझे जता दिया है कि मैं सूतपुत्र नहीं हूँ—मैं पीड़ितों और शोषितोंका एक प्रतीक नहीं हूँ—मैं उस मानव-समाजका सदस्य नहीं हूँ, जो युग-युगसे अपमानित होता आ रहा है, जो तिरस्कारके हालाहलको पीकर पचा जाता है, जो कोटि-कोटि बार मर-मर कर भी जिए जा रहा है—मैं जगत्की आत्माका एक अंश नहीं हूँ कि स्वयं दाने-दानेको तरसकर दूसरोंके लिए अन्न उपजाऊँ, स्वयं चियड़ोंमें

अपनी लज्जा छिगाकर दूसरोंको कौशेय परिधानोंमें सुसज्जित कर दूँ, गरल पीकर दूसरोंको अमर बना दूँ।

“देवि, आजसे कई वर्ष पूर्व एक दिन अधिरथ सूतने देखा कि नदीके प्रवाहमें कोई वस्तु बही जा रही है। काठकी पिटारीमें रखा हुआ वह एक नवजात शिशु था। नदी अपनी शीतल गहराइयोंमें उसे समाधि नहीं दे सकी। जीवनका वह नूतन पट्टव तत्काल नहीं मुरझा सका। विस्मय और हर्षके बीच आन्दोलित होता हुआ अधिरथ अत्यंत दया, अत्यंत ममतासे भाग्यकी उस अनायास-प्राप्त मुस्कानको गोदसे लगाकर पत्नीको दिखाने ले आया। जन्म-बन्ध्या राधाके शुष्क स्तनोंसे दुग्धकी सरिता उमड़ चली। सब मानो, देवि, प्रकृतिके उस विराट् आश्चर्यको तुम देखती तो !

“सूत-दम्पतिने समझा कि समाजके उपहास और आलोचनाके विषाक्त तीरोंसे बचनेके लिए किसी अभागिनी अत्याचारपीड़िताने पतनके अपने इतिहासको नदी-गर्भमें छिपा देना चाहा हो। समझा कि चलो, अच्छा ही हुआ—परमात्माकी लीला अन्ततोगत्वा मंगलकारिणी ही होती है—किसी विपथगाको लोक-लंछनसे मुक्ति मिली, और....

“क्या हुआ, महादेवि ? तुम्हारा मुख अकस्मात् अहणोदयकी भाँति चमककर बुझी हुई राख-सा धूसर क्यों हो गया ? तुम काँप क्यों रही हो ? छुई-मुई-सी सिमट-सिहरकर अपने-आपमें क्यों लीन हो जाना चाहती हो ? मुझसे अपराध हुआ देवि, क्षमा करो। जन्मसे ही विषमुख रहा हूँ—मेरी नस-नसमें संसार-भरकी कटुता भींग जो चुकी है !

“....मैं किसी विपथगा स्त्रीकी बात कह रहा था न ? अधिरथ और राधाने यह समझा कि किसी दुःखिनी, दारिद्र्यप्रस्ता अकुलीना नारीकी कोखसे वह बालक उत्पन्न हुआ होगा। स्वाभाविक समवेदना और निजी

अभावकी भावनाके वशीभूत होकर उन्होंने बालकको छातीसे लगा-लगाकर पाला-पोसा। बेचारे निरीह—बेचारे भोले भाले। महादेवी, यदि एक क्षणके लिए भी उन्हें पता चलता कि वह बालक सामान्य मानवताका पुत्र नहीं है, प्रत्युत विषधर सपौका वंशज है—खटमल, पिस्सू और जोंकोंके समान दूसरोंके रक्तसे अपना पोषण करनेवाले कीटाणुओंकी सन्तान है—युगोंसे मनुष्यताके कोमल हृदयको पैरों-तले रौंदनेवाले, निजी स्वार्थोंकी पूर्तिके निमित्त पृथिवीको अनेक बार मनुष्य-रक्तसे नहलानेवाले अत्याचारियोंका प्रतिनिधि है; यदि उन्हें यह पता होता कि अज्ञात-कुलशील वह बालक जगत्द्विख्यात वृष्णि-कुलकी एक राजकुमारीके गर्भसे उत्पन्न हुआ है, तो आज यह सब-कुछ कहने-सुननेका अवसर ही नहीं आता। उस बालकको पुनः नदीकी तरंगोंपर छोड़ देनेका निर्दय विचार तो उन्हें नहीं होता; परन्तु धधकते अंगारोंको घास-फूसके ढेरमें छिपाकर रखनेकी दुर्बुद्धि भी उनमें नहीं उपजती।

“छिः, महारानी, अज्ञान-तिमिरावृत इस विश्वमें झूठी कहानियोंका प्रचार करना उचित है क्या? पृथिवी विपुल है; काल निरवधि और मनुष्यता अनन्त है। सत्य और असत्य तो दोनों सापेक्ष अभिव्यक्तियाँ हैं। आजका सत्य किसी दिन मिथ्यामें परिणत हो जायगा। किन्तु जो वस्तु मूलमें ही मिथ्या है, जिसपर सत्यका नश्वर आवरण चढ़ाया गया है, वह किसी-न-किसी दिन अपने वास्तविक रूपमें आ ही जायगी। देवि, आज महाराज कुरुका जो वंश अत्यन्त पुनीत, अत्यन्त श्रद्धास्पद माना जाता है, क्या यह सम्भव नहीं कि सुदूर भविष्यमें एक दूसरे ही दृष्टिकोणसे लोग उसे देखने लगे? सुना है कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन आजके इतिवृत्तको क्रमशः लेखनीबद्ध करते जा रहे हैं। उन्होंने मुक्तकण्ठसे कुरुवीरोंकी स्तवगाथा लिखी है। पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, हजार

हाथियोंका बल रखनेवाले अन्धे महाराज धृतराष्ट्र, धर्मराज युधिष्ठिर, महावीर अर्जुन—ये कुछ नाम ऐसे हैं, जिनके श्रवण-मात्रसे मनुष्यके अतःकरणमें श्रद्धाका संचार होता है। क्या यह सम्भव नहीं कि आनेवाले युगका कोई वाममार्गी कवि किसी दूसरे ही रूपमें इन चरित्रोंकी आलोचना कर बैठे ! पितामह भीष्म अर्जुन मानव थे। आजन्म ब्रह्मचर्य एक प्रकृति-विरोधी कार्य है। आत्माके दम्भको उससे भले ही तृप्ति मिले, किन्तु जीवनके तत्त्वको उसमें पूर्णता नहीं मिल सकती। निःसन्तान पुरुष अनेक दुष्कर कार्योंका सम्पादन कर सकता है, इच्छा-मृत्यु प्राप्त कर सकता है, देवता-दानवोंको युद्धमें परास्त कर सकता है; एक-एक दिनमें सैकड़ों-हज़ारों मनुष्योंके प्राण ले सकता है; किन्तु वह इतना शक्त नहीं कि मूल पुरुष होकर भी कुलकी दो विच्छिन्न धाराओंको मिलाकर एक कर दे। वह युद्ध न करनेका मौखिक उपदेश तो दे सकता है; किन्तु नटस्थ होकर अपने अस्त्र-शस्त्रोंको विश्राम नहीं दे सकता। भविष्यका वह कवि आचार्य द्रोणको निस्संकोच एक पथभ्रष्ट मानव कहकर पुकारेगा। कहेगा कि दारिद्र्य-भगवानके चरणोंसे ऊबकर उस ब्राह्मणने विभव और शक्तिकी उपासना की। क्षुधाके अमृतको वह नहीं पचा सका। राजाओंकी कृपादृष्टिके नीचे उसने अपनी गिरस्ती सँभाली। उसके पुत्रको घड़ों दूध नहानेको मिला। ब्राह्मणी सुवर्णकी चमक और चीनांशुओंकी मसृणतामें अपने-आपको भूल गई। जब कि विश्वात्मा अन्नके दाने-दानेको तरस रहा था, असंख्य बच्चोंका कुसुम-सुकुमार जीवन दूधकी बूँदके बिना मुरझा रहा था, कोटि-कोटि नारी-शरीर फटे चिथड़ोंमें अपनी लज्जा छिपार हुए थे, तब वह ब्राह्मण हस्तिनापुरकी मझशालाओंमें राजपुत्रोंको युद्ध-शिक्षा देता—हिंसाके विषाक्त मन्त्रोंका

उच्चारण करता—अधिक-से-अधिक प्राण लेनेकी कला सिखाता और निर्दोष मनुष्य-रक्तसे सींच देनेके स्वप्न देखा करता था ।

“तो, महादेवी, सुदूर भावी युगकी प्रतिकूल-विचार-धारावाहिनी मानव-कल्पनाको बाँध कौन सकेगा ? उस समय सप्तागरा पृथिवीपर कुरु-वंशका साम्राज्य नहीं होगा । धर्मराज युधिष्ठिरकी महत्ता आजकी भाँति सर्वमान्य नहीं होगी । अर्जुनके गाण्डीवकी टंकार सुनकर लोगोंके हृदय नहीं काँप उठेंगे । हे देवी, उस समय वृष्णि-कुलकी राजकन्या, महाराज पाण्डुकी पद्मश्रीदेवी, पाण्डव-जननी कुन्तीके कथनको लोग ब्रावन-तोला-पाव-रत्ती सत्य नहीं मान लेंगे । लोग खुले शब्दोंमें कहेंगे कि कुन्तीने संसारकी अखिल मातृ-जातिको कलंकित कर दिया । क्या होता, यदि समाज तुमपर अँगुली उठाता ? क्या होता, यदि पथभ्रष्टा, अनाचरिणी, पतिता कइकर लोग तुम्हें सम्बोधित करते ? यही न कि वृष्णि-कुलमें फिरसे पैर रखनेको तुम्हें स्थान नहीं मिलता ? तुम्हारा विवाह एक चक्रवर्ती सम्राट्से न होकर किसी सामान्य पुरुषकी गृह-लक्ष्मी तुम बन जातीं ? परंतु, देवी, तुम्हारा मातृत्व तो अकलंकित अखण्डित रहता ? संसारके मुट्ठी-भर मनुष्य तुम्हारी टीका-टिप्पणी भले ही करते ; किन्तु जो महान् है, अविनश्वर है, प्रकृतिका जो परम शाश्वत सत्य है, उसके समक्ष तुम अपराधिनी तो सिद्ध न होतीं ?

“पुरुष तो सृष्टिका एक लघु सत्य है । वह क्रूर प्रवृत्तियोंका केन्द्र है । सदा विनाशकी ओर उसकी भावनाएँ उन्मुख रहती हैं । किन्तु नारी तो साक्षात् स्नेहशक्ति है—जगद्धात्री है । पुरुष प्रत्येक वस्तुकी तोड़-फोड़ करना चाहता है, नारी बिखरे तृणोंसे नीड़ रचना करती है । पुरुष ममता-राज्यका त्याग करना चाहता है, नारी निखिल चराचर सृष्टिको अपनी गोदमें समेट लेना चाहती है ।

संसारमें नारी-तत्त्वकी प्रधानता होती है, तब आजके-से प्राणहारी विस्फोट नहीं हुआ करते। जब स्त्रियाँ अपने पति-पुत्रों, बन्धु-बान्धवोंपर शासन करती हैं, तब मनुष्य मनुष्यके लहूका प्यासा होकर भयंकर कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता।

• “महारानी, भगवानने तुम्हें नारी बनाकर एक महान् सृष्टि-विपर्यय उपस्थित कर दिया था। जन्मसे आज तक नारीजनोंचित कोई भी धर्म तुम नहीं निभा सकीं। अनायासप्राप्त मातृत्वको तुमने किशोरावस्थामें ही नदीकी तरंगोंपर बहा दिया। आज तुम्हारी आँखोंके सामने ही शोणितकी असंख्य धाराएँ ब्रह्मावर्तकी छातीपर बही जा रही हैं। असंख्य अर्द्ध-विकसित जीवन-पुष्प विनाशकी उन तरंगोंपर बहे जा रहे हैं। यदि तुम चाहतीं, तो विधाताकी आधीसे अधिक सृष्टिको इस लोमहर्षण क्षयसे बचा लेतीं। तुम्हारे एक संकेतपर पाँचों पाण्डव अपने अस्त्र-शस्त्रोंको एक ओर रख देते। दुर्योधनका साम्राज्य चिरन्तनजीवीं वस्तु नहीं है, महादेवी, जिसकी प्राप्तिके निमित्त तुम और द्रौपदी-जैसी राजलक्ष्मियाँ अपनी मर्यादा खो बैठीं ? सृष्टिके आदिसे आज तक अनेक प्रतापी चक्रवर्ती राजाओंने पृथिवीको अपनी ही वशानुगा समझकर राज्य किया। वे सबके सब मर गए। इतिहासमें कुछ मन्दज्योति नक्षत्रोंके समान अभी टिमटिमा रहे हैं और शेष कालकी अनन्त नीलमामें खो गए हैं। धरती किसीकी सगी नहीं रही। किन्तु जिन्होंने मनुष्यताके हृदय-साम्राज्यपर अधिकार किया, वे भगवान सूर्यनारायणकी भाँति मानव-स्मृतिके आकाशमें चमक रहे हैं। यदि तुम चाहतीं, तो भरतके महान् वंशजोंमें अमानुषिक प्रवृत्तियाँ नहीं उपजतीं। भरी सभामें पर-स्त्रीको लाजसे होलियाँ न खेली जातीं। मनुष्यद्वारा दूसरे मनुष्यके जीवित रक्तको पी जानेकी भीषण प्रतिज्ञाएँ प्रकाशित नहीं की जातीं।

“लौट जाओ, राजराजेश्वरि, कर्ण तो आज मर चुका। नदीकी उताल तरंगों जिन पुण्योंके कारण तब उसे डुबा न सकी थीं, आज वे सब समाप्त हो चुके हैं। बरसोंकी उसकी तपस्या, सुनहले स्वप्नोंका उसका संसार आज जलकर राख हो चुका है। देवि, कौरवोंका महाबला-धिकृत, महावीर कर्ण आज सूतपुत्र नहीं है, इसलिए अमर नहीं है। कल तक उसमें यमके पाशको भी छिन्न करनेकी शक्ति थी; किन्तु आज गाण्डीवकी प्रत्यंचासे ही उसका गला घोंटा जा सकता है। तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध हो गया, महारानी, जाकर कह दो अर्जुनसे कि दम्भी कर्णके जीवन-रथका पहिया निराशाके कीचड़में धँस गया है। गाण्डीवके तीरोंको उससे अधिक सरल दूसरा लक्ष्य नहीं मिल सकता।

“किन्तु, मरूँ या जिऊँ, यहाँसे घर लौटनेसे पूर्व मैं तुमसे एक याचना करूँगा। हे देवि, ऐसा प्रयत्न करना कि सूतपुत्र कर्णको संसार सदा सूतपुत्र ही समझता रहे। अपने हृदयके जिस सत्यको आज तुमने प्रकाशित किया है, वह यदि अब सदाके लिए तिरोहित हो जाय, तो संसारका अधिक कल्याण होगा। वृष्णि-कुलकी राजकन्या और कुरु-वंशकी महारानीका पुत्र यदि एक दिन नारायणी सेनाका अध्यक्ष हो जाता है, तो इस सत्यको छातीसे लगाकर जीवित रहनेकी आकांक्षा हठात् किसीको नहीं होगी—किसीके भी निराशाकुल नेत्रोंमें आशाकी ज्योति नहीं जल उठेगी—जीवनके विषम भारके नीचे पिसते हुए किसी भी अभागको क्षणिक आश्रय-भूमि नहीं मिल सकेगी। आज अनेक महावीर, ख्यातनामा महारथियोंका अदृष्टपूर्व समुदाय यहाँ एकत्रित हुआ है। पिछले एक पक्षसे मरने-मारनेका एक अमानुषिक व्यापार अप्रतिहत गतिसे चला जा रहा है। भीष्म और द्रोण-जैसे बहुश्रुत नामोंके साथ सैकड़ों-हजारों प्रतापी प्राण मृत्युमें विलीन हो गए हैं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वीरोंकी इस विजय-यराजयसे संसारमें

हर्ष-विषादके कोई लक्षण दिखाई नहीं देते। कौरव विजयी हों अथवा पाण्डव, धरित्री फिर भी इसी प्रकार हरीतिमाकी ओढ़नीमें ममताकी निधि छिपाए रहेगी। पृथिवीके पुत्र सदा इसी प्रकार अन्न उपजाते रहेंगे। सूतपुत्रों और श्रमिकोंकी बड़ी-भारी जमात अपने प्राण होमकर संसारको बख पहनायगी—अपने शासकोंके लिए भोग और बिलासके उपकरण निर्मित करेगी। मनुष्यताका एक बड़ा अंश सदाकी भाँति दुःखका गुरु भार अपने कंधोंपर ढोता चला जायगा। तुम्हारे, तुम्हारी जातिके, तुम्हारे पुत्र-पौत्रोंके सुख-दुःखमें उनके अश्रु-हास कभी नहीं मिल सकते। इसलिए यदि वे सुनें कि महारानी कुन्तीका एक कौमार्य-जात, अविख्यातनामा कोई पुत्र कौरवोंके पक्षमें लड़ता हुआ मारा गया, तो सच मानो, उनकी उदासीन शक्तिके पारावारमें ज्वार-भाटेके नामपर एक क्षुद्र बुद्बुद भी नहीं उठेगा। और यदि उन्हें यह पता लग गया कि अंगराज कर्ण सूतपुत्र नहीं था—उन्हींकी जमातका एक सदस्य, उन्हींके हाड़-मांसका एक पिण्ड, उनके सुख-दुःख, आशा-निराशा, आनन्द और वेदनाका एक प्रतीक नहीं था—यदि वे इस सत्यको जान गए, तो महादेवी, सागरसे सागर तक फैली हुई इस सुजल, सुफल, शस्यश्यामल धरित्रीके वक्षःस्थलको चीरकर निराशाका ऐसा चीत्कार, वेदनाका ऐसा पारावार उमड़ पड़ेगा कि कौरवों और पाण्डवोंके कोटि-कोटि कुल उसमें डूब जायँगे। किसी दिन उन्हीं लोगोंके बीच सिर ऊँचा उठाकर सूतपुत्र-रूपी तुम्हारे इस पुत्रने कहा था कि अच्छे कुलमें जन्म देना ईश्वरके हाथमें है और छोटे कुलमें जन्म लेकर हिमालयके समान महान् बन जाना हमारे हाथमें। तुम्हारी माँकी जाति है, महादेवी, तुम जगद्गात्री हो। सावधान ! मिथ्या प्रमादके वशीभूत होकर, मरनेके उपरान्त मेरी चिताके प्रज्ज्वलित होनेके समय, जगत्के अत्यन्त क्षीण उस आशाप्रदीपको कहीं बुझा न देना !”

## शिखण्डीकी आत्मकथा

कुरुक्षेत्रका युद्ध प्रारम्भ हुए नौ दिन हो गए हैं। अभी तक पाण्डवोंको एक बार भी विजय प्राप्त नहीं हुई। कौरवोंके सेनापति देवव्रत हैं। मैं उन्हें इसी नामसे पुकारता हूँ। उन्हें दूसरोंकी भौँति भीष्म पितामह कहनेमें मुझे न-जाने क्यों संकोच होता है। हो सकता है कि पूर्वजन्ममें उनका और मेरा सम्बन्ध मेरी इस भावनाका कारण रहा हो। किन्तु उस जन्मकी यह स्मृति ही मेरे महान् दुःखकी जननी है। मैं कभी एक स्त्री था—बस, यही धारणा मुझे बार-बार कचोटती है। दूसरी स्त्रियोंकी ही भौँति कभी मैंने भी पुरुषको प्रेम किया था। आज मैं प्रेमके स्थानपर प्रतिहिंसा, घृणा और द्वेषको लेकर जन्मा हूँ। जो कभी मेरा सर्वस्व था, उसी व्यक्तिकी हत्या करना मेरे इस जन्मका उद्देश्य है। किन्तु इतने कठोर लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिए वज्रके बने जिस हृदयकी आवश्यकता होती है, वह मुझे नहीं मिला। मुझे लगता है कि भगवान् नारी-रूपके बदले पुरुषकी देह रचनेके समय मेरा हृदय परिवर्तन करना भूल गए। मैं अपने-आपसे कहता हूँ कि मैं पुरुष हूँ और पाण्डवोंके पक्षका एक महारथी माना जाता हूँ। किन्तु, न जाने क्यों, पुरुष-रूपके अन्तरालमें मुझे अपना नारीत्व बारम्बार दिखाई देने लगता है। संसार मुझे पुरुष समझता है; किन्तु मैं क्षण-भर भी यह प्रतीति नहीं पा सका हूँ कि मैं स्त्री नहीं हूँ।

जबसे शिखण्डीके रूपमें मैंने संसारमें जन्म लिया, तभीसे मेरे

इन दोनों व्यक्तित्वोंमें भीषण संघर्ष-सा छिड़ा रहता है। मैं बारम्बार हठात् मानो यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि मैं पुरुष हूँ। अर्जुनकी भाँति, भीम और देवव्रतकी ही भाँति मैं भी नर हूँ किन्तु उतनी ही बार मेरे अन्दरसे एक अपराजेय प्रतिध्वनि-सी उठती है। मानों कोई कह रहा हो—‘ नहीं शिखण्डी, तू नारी है—नारी है। ’ अनेक बार अपने एकान्त शिविरमें, अर्गलावद्ध कपाटोंके भीतर, मैंने अपने शरीरकी जाँच-परख की। वृषभके समान मेरे मांसल स्कन्ध, कपाटकी भाँति वज्रकठोर वक्षःस्थल, पाषाणसे भी कठिन मांस-पेशियोंका प्रसार। ये सभी अंग मेरे पुरुषत्वको सिद्ध करते थे। मेरे अंग-अंगमें अपार पौरुष मानों तरंगें लेता था। फिर भी मुझे लगता कि मेरी आत्मा मुझे पुरुष कहनेको उद्यत नहीं। मैं क्षुब्ध हो-होकर कई बार अपनी मूर्छें उखाड़ने लगता कि कहीं वे अप्राकृतिक तो नहीं हैं। खींचते-खींचते बालोंकी जड़ें ऊपर निकल आतीं, रुधिरकी बूंदें मेरे ओष्ठ-यटलपर दिखाई देने लगतीं। तीव्र वेदनासे मैं कराह उठता। अपने भीतर छिपी उस दानवीसे पूछ बैठता ‘—बोल दुष्टे, अब तो कह दे कि पुरुष हूँ ! ’ किन्तु अन्दरसे मानो एक स्त्री-सुलभ खिलखिलाहट-सी मुझे सुनाई देती। मैं पागल हो उठता।

युद्धकी नवीं रात्रिको जब शिविरमें लौटा, तो मेरी यही दशा होने लगी। मैंने तूणीर निकालकर पृथ्वीपर बिखेर दिया। गदा एक कोनेमें फेंक दी। शरीरपरसे लौह वर्म उतारकर झनझनाता हुआ पटक दिया। नग्नदेह मैं दर्पणके पास गया। मुट्टियाँ बाँधकर मैंने अपनी प्रतिच्छायासे पूछा—‘ बोल, तू पुरुष है कि नहीं ? ’ उत्तरमें देखा कि छायाकी आँखें हँस रही हैं। ये तो शिखण्डीकी आँखें नहीं कि जिनपर लाल डोरे-से खिंचे रहते हों। नीलाकाशकी भाँति स्वच्छ, शफरीके समान चंचल,

कामदेवके प्रत्यंचार्पित धनुष्यकी भाँति दीर्घायत ये नेत्र तो किसी स्त्रीके हैं। यह कौन है ? काशिराजकी कन्या...? मैंने क्रोधमें आकर दर्पणपर मुष्टिप्रहार किया। खनखनाते हुए काँचके टुकड़े शिविरकी भूमिपर बिखर गए। मैं अधोमुख अपने पर्यङ्कपर जाकर रोने लगा—सिसकने लगा।

इसी समय शिविरका द्वार खुल्य और अर्जुनने प्रवेश किया। मुझे उस दशामें देखकर मारे विस्मयके वह अवाक् हो गया। मुझे भी कुछ समझमें नहीं आया कि क्या कहूँ। टूटे हुए दर्पण और शिविर-भरमें बिखरे हुए अस्त्र-शस्त्रोंको देखकर मैं संकोचसे गड़ गया।

“यह सब क्या है, मित्र, तुम किसीसे मल्लयुद्ध तो नहीं कर रहे थे?”

मुझे अपने ही अन्दर निरन्तर होनेवाले मल्लयुद्धका स्मरण हो आया। फिर भी मैंने किसी प्रकार बनाकर उत्तर दिया—“मुझे अपने शस्त्रोंसे घृणा हो गई है, आज नौ दिन हो गए, किन्तु एक भी विजय हमें प्राप्त न हो सकी। बताओ तो, मैं क्या करूँ इन शस्त्रोंसे। मैं तो जाता हूँ, हिमालयकी कन्दराओंमें कहीं संन्यास धारण करूँगा।”

मुझे लगा कि मेरे उत्तरसे वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। संदिग्ध नेत्रोंसे देखते हुए बोला—“ओहो, वस यही बात थी ? अच्छा तो सुनो, तुम्हें एक शुभ समाचार सुनाता हूँ। आज युद्धकी विरतिके पश्चात् हम लोग पितामहके शिविरमें गए।...”

अर्जुन कहता जा रहा था, किन्तु साथ-ही-साथ तीक्ष्ण दृष्टिसे मेरी चेष्टाओंको भी देख रहा था। उसे इस प्रकार वार्तालाप करते हुए मैंने पहले कभी नहीं देखा। आज कुछ-न-कुछ रहस्य था, जो मैं नहीं जान सका। मैं मौन रहा।

वह बोला—“ आज तुमने देखा ही होगा कि पितामहने किस अदम्य पराक्रमसे युद्ध किया । हमारे सहस्रों सैनिक खेत रहे । रणभूमिमें संचरण करते हुए उन्हें देखकर ऐसा लगता था, मानों स्वयं महाकाल पृथ्वीपर उतर आए हों । वे जिधर घूमते, उधर हमारे सैन्य-गुल्म घासके फूलोंकी भाँति पृथ्वीपर गिरते, मिट्टीमें मिलते, दिखाई देते । मैंने लाख प्रयत्न किया कि उस महा विनाशको रोकूँ । किन्तु जैसे मेरे शर तिनकोंके बने हों । पितामहकी शौर्य-ज्वालामें वे भस्म हो जाते । मेरा तृणीर रिक्त हो गया । मेरे आयुध निःशेष हो गए । मैं स्तब्ध, जड़वत्, पराक्रम-मुग्ध रथपर ही बैठा रह गया ।...”

देवताओंके युद्धका वर्णन सुनकर मुझे, न-जाने क्यों, रोमांच हो आया । जन्मसे आज तक मेरा एक ही लक्ष्य रहा है—अपने ही हाथों उनका निधन । किन्तु अर्जुनका कथन मुझे ऐसा लग रहा था, मानो मेरे प्रियतमका विजय-संगीत गाया जा रहा हो । मैं चाहता था कि किसी प्रकार यह भाव मेरे हृदयसे निकल जाय कि एकाएक बलवती घृणासे आप्लावित होकर मैं क्रुद्ध हुंकार कर उठूँ । द्वेष-भरे शब्दोंमें अर्जुनके सन्मुख भीष्मके विनाशकी प्रतिज्ञा कर दूँ । किन्तु इसके विपरीत मैं तो अवाक् होकर सुनता ही रहा ।

“ इसके अनन्तर एक आश्चर्यमय दृश्य उपस्थित हुआ । कल्पान्त तक इस पृथ्वीपर होनेवाले मनुष्य उसका स्मरण करते रहेंगे । भगवान् श्रीकृष्णने अकस्मात् मेरे घोड़ोंकी रास फेंक दी । उनका मुखारविन्द उदीयमान सूर्यकी भाँति धधक रहा था । वे रथसे उतरे । रथका एक चक्र उन्होंने निकाला । सुदर्शन चक्रकी भाँति घुमाते हुए वे पितामहकी ओर झपटे ।...”

सुनते-सुनते मेरा शरीर काँपने लगा । हथेलियाँ पसीजने लगीं ।

इच्छाके प्रतिकूल मेरे नेत्र आनन्दसे नाच उठे। मैं उत्सुक स्वरमें पूछ बैठा—“फिर क्या हुआ ?”

“भगवानकी निरख रहनेकी प्रतिज्ञा टूट गई। केवल एक ही बार मानवताके इतिहासमें मनुष्यने देवताको पराजित कर दिया। पितामहने आयुध डाल दिए। रथसे नीचे उतरकर वे नतजानु होकर भगवानके चरणोंमें गिर पड़े।.....सायंकालको युद्ध स्थगित होनेपर हम लोग सब मिलकर पितामहके शिविरमें गए। यह निश्चित था कि जब तक वे जीवित हैं, हमारी विजय असम्भव है। हमने जाकर उनसे पूछा कि किस प्रकार उनकी मृत्यु हो सकती है।”

बड़ी कठिनतासे अपने-आपको सँभालकर मैंने पूछा—“तो क्या कहा उन्होंने ?”

“पितामह बोले कि कल अर्जुनके रथपर शिखण्डीको बिठा देना। मैं अस्त्र-त्याग कर दूँगा, क्योंकि मैं शिखण्डीपर तीर नहीं चला सकता। तब मुझे धराशायी करना सरल हो जायगा।”

इसके उपरान्त अर्जुन क्या कहता रहा, मुझे उसकी स्मृति नहीं। मैं कुछ और सोचने लगा था। देवव्रत मुझपर शस्त्र नहीं चलायेंगे ! क्यों ? क्या वे मुझे पहचान गए हैं ? क्या उन्हें ज्ञात है कि मैंने यह पुरुष-रूपा उन्हींकी प्रतिहिंसासे प्रेरित होकर प्राप्त किया है ? क्या वे भी मुझे पुरुष नहीं मानते, अथवा उस जन्मके मेरे नारी-रूपपर उन्हें किंचित् मोह है ? मनुष्यका ही हृदय तो है। कदाचित् उन्हें हमारी पुरातन स्नेह-ग्रन्थिका स्मरण हुआ हो। मेरी अतृप्त भावनाओंका तर्पण करनेके लिए ही कदाचित् वे निःशस्त्र होकर अपनी बलि देना चाहते हों....। मुझे रात-भर नींद नहीं आई। मैं शय्यापर उद्विग्न चित्तसे इधर-उधर लोटता रहा। बार-बार यही विचार मनमें तड़प उठता कि कल देवव्र-

तकी हत्या होगी । कल गाण्डीवसे निकले हुए सहस्रों शर उनके शरीर-को चलनी बना देंगे । पृथ्वीपर उनका संज्ञाहीन शरीर ऐंठ-ऐंठकर निश्चेष्ट हो जायगा । क्षण-भरके लिए यदि कभी आँख लगती, तो भयानक स्वप्न दिखाई देते । मैं देखता, किसी उद्यानमें एक स्त्री घूम रही है । वह लताओंसे आलिंगन और वृक्षोंसे प्रेमालाप करती है । फूलोंसे खेलती है—हँसती है । वह कुमारी है । अभी-अभी उसके मनमें, देहमें, यौवनका आगमन हुआ है । एक नया प्रकाश, नई उमंग, नया संसार उसके हृदयमें जाग उठा है । उद्यानके लता-कुंजसे अकस्मात् एक पुरुषका आविर्भाव होता है । वह देवव्रत है । नारी उसकी ओर देखती है । उसे लगता है कि जैसे जीवनको सार्थकता मिल गई । सरिताके प्रवाहको मानो महासागरकी अगाध नीलिमा प्राप्त हो गई । फूलोंको जैसे सौरभ मिला और पृथ्वीको जैसे आपाढ़का प्रथम मेघ । देवव्रत युवतीको ओर बढ़े । और तभी मैंने देखा कि एक भयानक विस्फोट हुआ । अन्धकार छा गया । जहाँ युवती थी, वहाँ मैंने अपनेको खड़ा देखा । मेरे हाथमें खड्ग है और मैं आँखोंसे अग्नि-सा बरसाता हुआ देवव्रतकी ओर बढ़ता हूँ । वे निश्चल, निनिमेष नेत्रोंसे मुस्कराते हुए मेरी ओर देख रहे हैं । मेरा हाथ उठता है ..मेरी आँखें खुलती हैं । मैं अपने-आपको पसीनेमें भीगा हुआ पाता हूँ ।

दूसरे दिन हम लोग रणभूमिमें गए । मैं चुपचाप अर्जुनके रथपर बैठा रहा । पीठ-पीछे अर्जुन था और सामने श्रीकृष्ण रथ चला रहे थे । अर्जुनका रोम-रोम विचित्र उत्साहसे दीप्त हो रहा था । मैं मृत शरीरकी भाँति भावहीन, चेष्टाहीन था । श्रीकृष्ण शान्त थे, निरन्तर मुस्करा रहे थे । लगता था कि रथके साथ ही साथ सारे ब्रह्माण्डका वे ही संचालन कर रहे हों । हमारी इच्छाओं और कार्योंकी बागडोर मानो उन्हींके हाथोंमें हो ।

दूरपर देवव्रतके रथकी ध्वजा फहराती हुई दिखाई दी। उनके चारों ओर महामृत्युका ताण्डव-सा हो रहा था। हमारे सहस्रों सैनिक, अस-वार, महारथी, योद्धा झंझावातके झकोरोंकी भाँति उनपर झपटते; किन्तु उन तक पहुँचनेसे पहले ही उनके मृत-अर्द्धमृत शरीर पृथ्वीपर लोटते दिखाई देते। शोणितकी बाढ़-सी उमड़ पड़ी थी। उसपर देवव्रतका रथ बरसाती तरंगोंपर डगमगाती नौकाकी भाँति दिखाई देता था।

हम चाहते थे कि उनके रथके सामने पहुँच जायें; किन्तु हमें देखकर वे दूसरी ओर चल देते। उसी ओर भीषण मारकाट मच जाती। वे आज जान-बूझकर हमसे दूर भाग रहे थे।

तीसरे प्रहर देवव्रतका और हमारा सामना हुआ। उन्होंने मुझे देखा और मैंने उन्हें। उनकी आँखोंका रक्तिम प्रकाश एकाएक बुझ-सा गया। एक उज्ज्वल नीलिमा उनमें चमक उठी। मैं, न-जाने क्यों, उनसे आँखें न मिया सका। हठात् मेरी पलकें झर गईं। मुझे लगा, कपोलोंपर उष्ण रुधिर दौड़ने लगा है। हृदय धक-धक करने लगा; अंग-प्रत्यंग ढीले पड़ गए; मुट्ठी खुज गई; धनुष नीचे गिर पड़ा।

अर्जुन बोला—“ शिखण्डिन्, धनुष उठाओ वीर। ”

मैंने आँखें ऊपर उठाईं। देखा, देवव्रतने शस्त्र डाँट दिए हैं। लौह-कवच उतारकर एक ओर रख दिया है। उनका विशाल वक्षःस्थल निराभरण है। वे वीरासन बाँधे, निश्चल, अपने रथपर बैठे हैं। हमें देख रहे हैं। मुस्करा रहे हैं।

“ शिखण्डिन्, चलाओ तीर। ”

मैंने जड़ यन्त्रकी भाँति अपना धनुष उठाया। तूणीरसे बाण निकाला। संधान किया। छोड़ दिया। किन्तु हाथोंमें शक्ति नहीं थी। पतझड़के

पीले पत्तेकी भाँति मेरा वह तीर लक्ष्य तक न पहुँचकर पृथिवीपर गिर पड़ा। इसी समय अपने पीछे मैंने गाण्डीवकी टनकार सुनी। कालसर्पकी भाँति एक वेगवान तीर मेरे कानके समीपसे सनसनाता हुआ निकल गया। देवव्रतके अक्षतपूर्व वक्षःस्थलपर एक बड़ा-सा घाव बन गया। शोणितकी उत्तम धारा बह चली। पुनः गाण्डीव बोला। दूसरा घाव बना। रुधिरकी दूसरी धारा बह चली। फिर गाण्डीव बोला। घाव बना; धारा बही। देवव्रत उसी भाँति बैठे रहे। उनके मुखपर एक बार भी पीड़ाकी वक्र रेखा नहीं खिंची।

मुझे न-जाने क्या हो गया। मैंने धनुष एक ओर रख दिया। हृदयमें ज्वार-सा कुछ उमड़ पड़ा था। भय-विस्फारित नेत्रोंसे मैं यह सारा व्यापार देख रहा था। देवव्रतको तीर लगता और प्रत्येक बार असह्य पीड़ासे मेरा हृदय तड़प उठता। अर्जुन वाण-पर-वाण चलाता जा रहा था। मानों अनन्त काल तक वह यही करता रहेगा। मानो कल्पान्त तक भीष्म वैसे ही बैठे रहेंगे—शान्त, स्मितमुख, गम्भीर, निःशस्त्र। मुझे लगा, अर्जुन बड़ा निर्दय है। निरस्त्र योद्धापर तीर-पर-तीर, तीर-पर-तीर चलाता ही जा रहा था। कायर कहींका! रुकता ही न था। उसने एक मनुष्यकी हत्या करनेकी ही ठान ली है। वह व्यक्ति उसका पितामह है। हिमधवल केशोंसे उसका मस्तक मण्डित है। वृद्धावस्थाकी आड़ी-तिरछी रेखाएँ उसके मुखपर खिंची हुई हैं। वह अनुद्विग्न, स्निग्ध नेत्रोंसे हमें देख रहा है—मुस्करा रहा है। मेरी इच्छा हुई, अर्जुनसे कहूँ—भाई, अब नहीं। अब तीर न चलाओ। इच्छा हुई, उसके हाथोंसे गाण्डीव छीन कर दूर फेंक दूँ, उससे टिपट पड़ूँ, प्रार्थना करूँ, रोऊँ, गिड़गिड़ाऊँ। किन्तु उसी समय मेरी दृष्टि श्रीकृष्ण-पर पड़ी। वे तिरछी आँखोंसे मुझे देख रहे थे—मुस्करा रहे थे। आसपास

खड़े अपने योद्धाओंको देखा। लगा, वे सब-के-सब मुझे ही देख रहे हैं—मुस्करा रहे हैं। मैंने आँखें बन्द कर लीं। अपने अन्दर देखा, कोई रो रहा है—हँस रहा है ! रो रहा है और हँस रहा है !!

इसी समय पाण्डव-सेनाके जयघोषसे पृथ्वी और आकाश काँप उठे। मैं उसी प्रकार आँखें बन्द किए, रथदण्डसे टिका हुआ निश्चल बैठा रहा। समझ गया था कि क्या हुआ। देवव्रतके रिक्त रथकी ओर देखनेका साहस मुझमें न था।

“साधुवाद शिखण्डिन्, हम विजयी हुए !”

मैं वैसे ही बैठा रहा।

रात हुई। प्रथम प्रहर बीता। दूसरा बीत गया। मैं अपने शिविरमें एकाकी बैठा हुआ था। दीपक बुझा। अन्धकारकी लहरें मेरे चारों ओर उमड़ पड़ीं। अकस्मात् मेरे अन्दरसे एक सर्वव्यापी क्रन्दन उठा, मानो अश्रुसिक्त कण्ठसे किसीने मुझसे पूछा—“शिखण्डिन्, सच बोल, तू कौन है ?”

उस महान् कटु व्यंग्यकी नाटिका समाप्त हो चुकी थी। मेरे अन्दरका संवर्ष सो चुका था। करुणाका एक शक्तिशाली स्रोत उमड़कर मुझे आप्लावित कर रहा था। मेरा द्वित्व गलकर एकाकार हो गया। कौन पूछता, कौन उत्तर देता ? शिविरके उस एकान्त तिमिरको मानो कैपाते हुए मैंने कहा—“मैं नारी हूँ—पुरुष नहीं हूँ !”

मैंने पीठपरसे तूणीर खोलकर नीचे रख दिया। लौह वर्म उतारकर पर्यंकपर फेंक दिया। निर्मल-शुभ्र वस्त्र पहने। रात्रिकी नीरवतामें शिविरके द्वार खोलकर मैं बाहर निकल गया।

रणभूमिमें नक्षत्रोंका झिलमिल प्रकाश बरस रहा था। दूरपर देवव्रतकी

शर-शय्या दिखाई दी। मेरे पैर पृथ्वीमें गड़-से गए। जैसे मैं अभिसारको जा रहा होऊँ। मानो आज ही मिलनेकी सौभाग्य-रात्रि है। मेरा पुरुष नष्ट हो चुका। मैं नारी हूँ। मैं यह निश्चय कर चुका हूँ। इससे बड़ी शान्ति, बड़ा सुख मिल रहा है। चाहता हूँ कि यह निश्चय अब अटूट रहे।

मैं दबे पाँवों देवव्रतके सिरहाने जाकर खड़ा हो गया। असंख्य शरीरोंकी तीक्ष्ण नोकोंपर वह महात्मा शान्त होकर पड़ा हुआ था। मेरी पदध्वनि सुनकर उन्होंने आँखें खोलीं। बोले—“कौन है ?”

मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। सोचा, कह दूँ कि शिखण्डी हूँ। किन्तु अब मिथ्या आडम्बर नहीं चलेगा। जिस झूठका जन्म-भर आश्रय लेता रहा, आज उसे ग्रहण नहीं करूँगा। मैंने काँपते हुए गलेसे अहा—  
“देवव्रत, मैं हूँ अम्बा !”

मुझे लगा कि वे चौंक पड़े। उनका क्षत-विक्षत वक्षःस्थल उठा और एकक्षीण—अत्यन्त क्षीण—कराह मेरे कानोंमें पड़ी। बोले—“कौन ? शिखण्डी ? आओ, बैठो।”

“नहीं, मैं शिखण्डी नहीं हूँ, देवव्रत, मैं अम्बा हूँ, तुम मुझे पहचानते हो। मैं तुमसे मिलने आया हूँ। क्षमा माँगने आया हूँ। तुम मुझे जानते हो। फिर यह व्यंग्य-क्यों ?”

वे बोले—“तुम जो थे, वह मैं जानता हूँ। तुम जो हो, वह मुझसे छिपा नहीं है। पुरुषकी यह देह तुम्हें कठोर तपस्याके परिणाममें मिली है। आज उसीसे वितृष्णा कैसी ?”

मैं चुप रहा। क्या कहता ? जब मिथ्याका आवरण हट चुका, तो मेरे कुछ कहने-सुननेकी आवश्यकता कहाँ रही ?

मुझे निरुत्तर पाकर वे स्वयं ही बोलने लगे—“अस्तु, जाने दो अब इन बातोंको। संसारमें आज मेरे कर्म समाप्त हो गए हैं। मुझे किसीसे द्वेष नहीं है। मैं सबका हूँ; सब मेरे हैं। मेरे चारों ओर अपार शान्ति-समुद्र लहरें ले रहा है। प्रेमका उज्ज्वल आलोक जल उठा है। जन्म-मरणके बन्धन कट चुके हैं। किन्तु शिखण्डिन्, मैं मृत्युसे पहले तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ। तुम पूर्वजन्ममें नारी थे। तुम्हारे हृदयमें प्रति-हिंसा, घृणा, द्वेष इत्यादि तामस विकारोंके लिए स्थान नहीं होता। नारी प्रेम, दया, करुणा और वात्सल्यकी देवी है। पुरुषसे वह कहीं श्रेष्ठ है। पुरुष कठोर होता है। उसकी प्रवृत्ति विनाशोन्मुख होती है। निर्माणका—सौन्दर्य-सृष्टिका—वह शत्रु होता है। यहाँ देखते हो ? मेरे अल्लोस्त्रे मरे हुए लक्षाधिक मनुष्योंसे कुरुक्षेत्र भरा पड़ा है। यह मेरा कर्म है। पुरुष अपने पीछे भीषण विनाशके चिह्न छोड़ जाता है।

“पुरुषने तुम्हारी उपेक्षा की थी। तुम उसे क्षमा कर देते। अनादि कालसे पुरुषके अपराधोंको नारी क्षमा करती रही है। यदि ऐसा न होता, पुरुषके प्रत्येक पापके लिए नारी प्रतीकार करना चाहती, तो विधाताकी यह सुन्दर मानव-सृष्टि कभीकी नष्ट हो गई होती। सत्यवा-नको मृत्युके पाशसे मुक्त कौन करता ? मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रकी मर्यादाको अक्षुण्ण बनाकर घोर लांछना और अपमानकी शिखण्डीको कौन चुपचाप अपनी छातीपर बहन करता ?”

देवव्रत कुछ देर मौन रहे, फिर बोले—“नारी एक विशाल समुद्र है और पुरुष उसकी छातीपर उठनेवाली छोटी-सी नक्षत्र तरंग। वह एक क्षुद्र बुदबुद है जो उठता है, प्रकाशके इन्द्रधनुषी रंग उसपर चमक उठते हैं; किन्तु दूसरे ही क्षण वह ऐसा बिलीन हो जाता है कि अपना

बिहू तक नहीं छोड़ता....। तुम मिथ्या मोहमें पड़कर पुरुष-योनिकी कामना न करते, तो इतिहासका क्रम दूसरा ही होता....। किन्तु जाने दो इन बातोंको । ”

मैं चुपचाप अधोमुख उनके शब्दोंको सुनता रहा । वे मौन हुए । मैं जहाँ बैठा था, वहाँसे उठा । उनके चरणोंपर मैंने जाकर अपना सिर रख दिया ।

पितामह बोले—“ मैं आशिर्वाद देता हूँ । तुम्हारे कर्मोंका क्षय हो । ”

मैं उठा और शिविरकी ओर चल दिया ।

---

## अश्वत्थामा

कौन कहता है कि अश्वत्थामा चिरंजीवी है ? कौन कहता है कि मैं और मेरे साथ जिन छह और व्यक्तियोंका नाम लिया जाता है, सब अमर हैं ? अश्वत्थामा, कृपाचार्य, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण और परशुराम—ये सब मनुष्य थे । सबके सब प्राकृतिक मृत्युसे मर गए । उनके नद्वर शरीर हजारों वर्ष पहिले पंचतत्त्वमें विलीन हो चुके । फिर जीवित कौन रहा ?—जीवित रहा उनका कर्म । जीवित रही उनकी परम्परा—मानव-सृष्टिके इतिहासपर वज्रसे लिखे-गए उनके उदाहरण—मनुष्यतामें निरन्तर उत्पन्न होनेवाले उन जैसे व्यक्तियोंके कार्य-कलाप । इसीलिए अश्वत्थामा चिरंजीवी है । इसीलिए प्रतिदिन प्रातःकाल ‘सप्तैते चिरंजीविनः’ में उसका नाम लिया जाता है ।

और, मैं चिरंजीवी अश्वत्थामा हूँ । संसारने मेरी शिरोमणि छीन ली है । मेरे मस्तकपर खयंक्रीत कलंकका कभी न पुरनेवाला घाव बना दिया है । समयकी अनन्तता संसारकी सभी वस्तुओंको नष्ट कर सकती है; किन्तु, मेरे इस घावको सुखा नहीं सकती । कहते हैं कि वह मेरे ही कर्मोंका शाश्वत दिपाक है । मेरी ही नृशंसता और क्रूरताकी प्रति-क्रिया है । मेरे अस्तित्वका तात्पर्य है परोत्पीड़न और मेरे जीवनका अर्थ है प्रतिहिंसा । इसी लिए परमात्माने मुझे कभी न भरनेवाला घाव दिया

है, कि मैं स्वयं पीड़ित होता रहूँ—स्वयं तड़प-तड़प कर दूसरोंको तड़पाता रहूँ।

मैं वह भावना हूँ जो दूसरेको दुःखी देखकर हर्षोत्फुल्ल हो उठती है। दूसरेके कपोलोंपर करुणाके आँसू बहते देख मेरे हृदयकी कलियाँ खिल पड़ती हैं। मैं वह व्यक्ति हूँ जो मार्गमें सोए हुए कुत्तेको ठोकर मारता हुआ निकल जाता है—जो वृन्तसे झरे हुए मालती-कुसुमको हठात् पैरों तले रौंद डालता है—जो वृक्षोंपर झूमते हुए नव-पल्लवको अकारण तोड़कर चुटकीमें मसल देता है। मैं उस नटखट बालककी उत्पत्ति बुद्धि हूँ, जो मुसकराते हुए अबोध शिशुको चिकोटी काटकर रुखा देता है; और बिल्लीके छोटे-छोटे बच्चोंमें सुई चुभोकर उन्हें उछलते-कूदते और मिमियाते देखकर तालियाँ पीटता है।

महाभारत समाप्त हो चुका था। रात्रि-लक्ष्मी चंचला वारांगनाकी भाँति दुर्योधनका उत्संग छोड़कर युधिष्ठिरकी ओर चल दी थी। एक ओर दुर्योधनको अधोगतिके पातालमें देखकर मुझे आनन्द मिल रहा था, दूसरी ओर पाण्डवोंको विजय और स्वत्व-प्राप्तिके उल्लासमें उत्फुल्ल देखकर मारे ईर्ष्याके मैं जल उठा। संसारमें कहीं भी हर्ष और आनन्दकी व्याप्ति होना मुझे सहन नहीं होता। सोचा, जीत गए हैं तो क्या हुआ, पाण्डवोंको ऐसी पीड़ा, ऐसा शोक दूँ कि युद्धमें पराजित होने पर भी वे ऐसे व्यथित न होते।

एक निस्तब्ध काली रात्रिको मैं द्रौपदीके शिथिरमें घुसा। वहाँ ठिमठिमाते दीपकके प्रकाशमें द्रौपदी और उसके पाँच छोटे छोटे शिशु सो रहे थे। मैंने उन अबोध बालकोंकी गर्दनें उतार लीं। मेरी तलवार पाषाणशिलाओंकी छातियाँ बिदीर्ण कर सकती थी। उन बच्चोंकी मक्खन-सी कोमल ग्रीवाओंके आरपार होनेमें उसे किंचित् भी श्रम नहीं

करना पड़ा। दूसरे दिन मृतवत्सा जननीके क्रन्दन और पाण्डवोंके हाहाकारको सुन कर मैं हर्षसे उन्मत्त हो उठा। क्या हुआ जो उन्होंने मेरी शिरोमणि निकाल ली? क्या हुआ जो कल्पान्त तक पीड़ित करने-वाला घाव मेरे मस्तकपर बना दिया? मूर्ख कहींके! मेरी प्रतिहिंसा तो चौगुनी हो गई है। मैं मरा तो नहीं। मैंने और भी विस्तृत रूपमें मानव-शिशुओंका संहार करना प्रारम्भ कर दिया है। मैं भावना-रूपमें उन लोगोंके अन्तःकरणमें जा बसा हूँ, जो संसार-भरके धनको, वैभव और शक्तिको समेट कर एक ओर जा बैठे हैं। मनुष्यके सुख, सुविधा और शान्तिपर जिन्होंने एकाधिकार कर लिया है। जिनके अस्तित्वके फलस्वरूप जगतके बहुजनोंको पेट भर भोजन नहीं मिलता, शरीर ढाँकनेको पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलते, बालकोंके पोषणके निमित्त दूध नहीं मिलता, रोगोंसे छुटकारा प्राप्त करनेको ओषधियाँ नहीं मिलतीं।

द्रौपदीके पाँच शिशुओंके रक्तसे भला मुझे तृप्ति कैसे होती? आज पाँच लाख मानव शिशु दूधके बिना मुरझाए जा रहे हैं।—महामारी और त्रिसूचिकासे आक्रान्त होकर असमयमें ही यमके अतिथि बन रहे हैं। उन्हें मरते देख, उनके माता-पिताओंका ब्रह्माण्डभेदी क्रन्दन सुनकर सन्तोष और सुखकी एक लहर मेरे मनपर दौड़ जाती है। मेरे प्रासादोंमें तब नृत्य और संगीतकी आत्माएँ जागृत हो जाती हैं। सुरा और सौन्दर्यकी ज्वालाएँ प्रज्ज्वलित हो उठती हैं।

महाभारतका युद्ध जीवनका पहिला महोत्सव था। उसके पहिले त्रेता युगमें एक महान् संप्राम हुआ था, जब कि अयोध्याके आर्य राजा रामचन्द्रकी सेनाएँ लंका द्वीपके राक्षसोंपर विजय प्राप्त करने आ पहुँची थीं। मुझे उस कथाके दूसरे अंशोंमें कोई अभिरुचि नहीं थी। किस प्रकार दो राजकुमार पिताके विराट् ऐश्वर्य और पृथिवीके एकातपत्र प्रभुत्वको तृणवत् तिलांजलि देकर चले आए—किस प्रकार एक

सुकुमार लड़कीने अपनी ही इच्छासे पुरुषकी छाया बनकर संसारमें युगप्रवर्तक नारी-शक्तिका उदाहरण स्थापित कर दिया, किस प्रकार उन्नी शक्तिसे प्रेरित होकर मनुष्यने महासागरकी अलंघ्यतापर विजय प्राप्त की—मुझे इन सब बातोंमें रस नहीं मिलता था । किन्तु जब लंकाके राक्षस और रामचन्द्रकी वानर-सेनामें परस्पर विनाशकी प्रतिद्वंद्विता चल पड़ती, जब आकाशमें तीरों, बछियों, गदाओं और शक्तियोंका एक घना वितान तन जाता—सूर्यकी किरणें उसे भेदकर पृथिवीपर बहनेवाली मनुष्य-शोणितकी असंख्य धाराओंको न देख सकती—जब घायलके आर्तनाद और विजेताके दृम अट्टहाससे वातावरण फटने लगता—जब मृतवत्सा जननी और त्रिधवा तरुणीके कपोलोंपर गजमुक्ताके समान बड़े-बड़े आँसू टुलक पड़ते—तब मेरा मन-मयूर उन्मत्त होकर नाच उठता । मैं इन्ही आँखों देखना चाहता था कि किस प्रकार मनुष्य हिंस्र पशुओंके समान एक-दूसरेका प्राण लेनेके लिये पागल हो उठता है । इस शान्त-दीखनेवाली हरी-भरी पृथिवीपर किस प्रकार योगिनियाँ खपरेमें गरम-गरम रक्त पीकर मद्भोत्सव मनाती फिरती हैं । मुण्डहीन कबन्धोंके झुण्डके झुण्ड किस प्रकार घूम-घूम कर मृत्युका उच्छृंखल नृत्य दिखाते हैं । महाभारतके अठारहों दिन मुझे इन्हीं दृश्योंका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ । लगा कि आत्मा तृप्त हो गई है ।

इधर कलियुगमें मैंने अपने आपको और भी अधिक विस्तृत सार्वभौम रूप दे दिया है । मैं उग्र राष्ट्र-वादिताके रूपमें देशों और जातियोंमें समा गया हूँ । मैं प्रत्येक राष्ट्रको उकसाता हूँ कि सारी पृथ्वीपर एकच्छत्र शासन करनेका उसीको दैवी स्वत्व मिला हुआ है । मेरे संकेत-मात्र पर आकाशमें युद्धके घनघोर बादल छा जाते, और पृथिवीपर विनाशकी चण्डिका नाच उठती है । मैं किसानोंसे कहता हूँ—छोड़ो इस बूढ़ी धरतीको; सैनिक बनो; सैनिक बनो; शस्त्र धारण करो । हतो वा प्राप्नसि स्वर्गं, जित्वा वा

मोक्षसे महीम् । मैं श्रमिकोंसे कहता हूँ —संसारको वस्त्रोंकी आवश्यकता नहीं, अन्यान्य जीवनसम्बन्धी उपकरणोंकी अपेक्षा नहीं । तुम शस्त्रोंका उत्पादन करो । अपने-अपने राष्ट्रकी विश्व-विजयी बनानेमें योग दो । मैं राजनीतिकोंसे कहता हूँ—वस, अमर तुम्ही हो; अपने देशको सदा युद्धके लिए कटिबद्ध रखो । वैज्ञानिकोंके उर्वर मस्तिष्कोंमें मैं उन्मादगामिनी प्रतिभाके रूपमें निवास करने लगा हूँ । फलस्वरूप मनुष्य-संहारके उत्तमोत्तम आविष्कारोंको जन्म देनेको उनमें होड़-सी मच गई है । कोई आग उगलनेवाले यंत्रका निर्माण करता है, तो कोई विषैली वाफसे भरे लौह-क्रन्दुकोंको बनाता है । तीसरा वैज्ञानिक प्राणहारी जीवाणुओंको पृथिवीपर छिड़क कर मनुष्योंकी समूची-की-समूची जातियोंका उन्मूलन करना चाहता है । कोई प्रकृतिसे अणुशक्तिको प्राप्त करके समूची पृथिवी-को भस्म कर देनेकी सोचता है ।

त्रेताके उपरान्त पूरा एक युग वीतनेपर महाभारतका युद्ध हुआ था । किन्तु कलियुगमें अश्वत्थामाकी भावना तीव्रतासे कार्य कर रही है । पहिले एक-एक शताब्दी लौंघकर युद्ध होने लगे । अब मेरी प्रेरणामे बीस-बीस दस-दस वर्षोंके अन्तरमें विश्वव्यापी मनुष्य-संहार होते हैं । राम-रावण-संग्राम अथवा महाभारतके युद्धके समान केवल एक छोटे-से प्रदेशमें सीमित रह कर आज युद्ध नहीं लड़े जाते । सूर्योदयसे सूर्यास्त तक ही लड़नेकी अवधि नहीं बना ली जाती । अब तो किसी भी समय किसी भी स्थानपर नरमेघ प्रारम्भ किया जा सकता है । मध्य रात्रिकी नीरवतामें, रणस्थलसे योजनाओं दूर एक शान्त-से दीखनेवाले नगरमें, जब कि सब लोग गम्भीर निद्रामें अपने आपको भूले हुए हों, छोटे-छोटे सैकड़ों अबोध बालक माताओंकी गोदसे लगे हुए विस्मृतिके सुखमें डूबे हुए हों, तब आकाशचारी विमानोंका एक दल महामृत्युकी-सी हुंकार भरता हुआ आता है;—अग्निकी वर्षा होती है—प्रलयंकर विस्फोट होते हैं और

क्षणभरके उपरान्त, शान्तिके उस पारावारमें विनाशकी झंझा उठ खड़ी होती है; योगिनियाँ खपर बजाती हुई नाचने लगती हैं; प्राण टूटते हैं; शरीर मरते हैं; माताओंके निर्जीव उत्संगमें दुधमुँहे बालकोंके रक्ताक्त कबन्ध पलभरको तड़प कर निश्चल हो जाते हैं। रहस्यकी अदृश्यतामें छिपा हुआ अश्वत्थामा यह सब देख कर अट्टहास कर उठता है।

परन्तु, मेघाच्छन्न कालरात्रिमें बिजलीकी भाँति, एक अत्यक्त आशंका अश्वत्थामाके मनपर बार-बार कौंध जाती है। सोचता हूँ, कि मनुष्यके मनमें संहारका मेरा मंत्र पूर्ण प्रभावको प्राप्त हो गया है। जिस उत्साह और द्रुतगतिसे आज मानव-जाति युद्धोंकी परम्परा निर्मित करती जा रही है, उसे देख कर लगता है कि वह दिन निकट आ गया जब कि सम्पूर्ण जगत् एक संग्रामस्थल बन जायगा; और एक ही दिनमें विधाताकी समूची मानव-सृष्टि अपनी ही सुलगाई अग्निमें जलकर राख हो जायगी। फिर मैं क्या करूँगा ? चिरञ्जीवी तो हूँ ! इस सारी पृथिवीपर मनुष्य नामका एक भी प्राणी नहीं रह जायेगा। मेरे मस्तकपर जो घाव है, वह बारम्बार तड़प उठेगा और दूसरोंको तड़पाकर उसे शान्त करनेकी प्रतिक्रिया मुझे कैसे मिलेगी ?

तब, सोचता हूँ कि हिमालयके किसी उच्च शिखरपर बैठकर तपस्या करूँगा कि विधाताका निश्चल आसन डोल उठे। मैं वरदान माँगूँगा कि फिरसे मानवोंकी सृष्टि हो। फिरसे परस्पर द्वेषकी भावना उन्मीलित हो उठे। फिरसे कभी न टूटनेवाली युद्धोंकी परम्परा स्थापित हो। फिरसे योगिनी नाच उठे—रणभूमिमें मुण्डहीन कबन्ध दिग्भ्रान्त-सा होकर तलवार खींचे हुए एक ओर दौड़ पड़े—माता पृथिवीकी शस्य-स्यामला ओढ़नी मानव-रक्तसे लाल रंग उठे!!—और नील अन्तरिक्षकी ओटमें अश्वत्थामा अपनी इस लीलाको देख-देख-कर भीषण अट्टहास कर उठे!!!

## अहंकारका जन्म

कहा जाता है कि दण्डकारण्यमें किसी समय एक विशाल वटवृक्ष था। उसकी चोटी आकाशके नक्षत्रोंके मुख चूमती, और शाखाएँ दिग्बधुओंकी अलकोंमें क्रीड़ा किया करतीं। जेटके प्रखर मध्याह्नमें भी घनी छायामें अमानिशाका-सा अन्धकार और शरत्की रात्रियोंकी-सी शीतलता व्याप्त रहती थी। उस वृक्षके पहाड़-से तनेका आधार लेकर तपोधन नामक एक ऋषिकी झोंपड़ी बनी हुई थी। भोग और विलाससे परे, मायाके कठिन पाशसे मुक्त होकर तपोधन दण्डकारण्यकी निर्जनतामें ऐहिक अस्तित्वको भूट कर परमार्थ-चिन्तन करते रहते। दिनमें तीन बार गोदावरीके पवित्र जलमें नहाते। कमल पुष्पोंका अर्घ्य देकर भगवान् सविता देवता भी अर्चना करते। गायत्रीके विराट् आलोकमें उनका अन्तर-कलुष धीरे-धीरे भस्म हो चुका था। अनेकों दृःखोंसे पीड़ित इस विश्वमें शाश्वत आनन्दकी सरिता बहा देनेकी उनकी कल्पना थी; और, अपना लघु जीवन त्रिसर्जित कर जगत्के विराट् जीवनकी कल्याण-कामनाका स्वप्न वह देखते थे।

कुटीमें एक ओर भिक्षा अथवा उच्छ्रवृत्ति द्वारा उपार्जित अन्न-भाण्डार रक्खा हुआ था। वहीं भूमिमें गहरा विल बना कर दीर्घपुच्छ नामका एक मूषिक भी निवास करता था। अन्तर्यामिता शक्तिके द्वारा यद्यपि ऋषिने चूहेकी उपस्थितिका पता लगा लिया था; फिर भी स्वभावसे ही दयावान् होनेके कारण उन्होंने किसी प्रकार उसे दण्डित करनेका

प्रयत्न नहीं किया। क्योंकि वह जानते थे कि जिस प्रकार उन्हें जीवित रहनेका अधिकार है, उसी प्रकार दीर्घपुच्छको भी। उनके परिश्रमके द्वारा अन्नका उपाजन होना ही केवल-मात्र कारण नहीं हो सकता कि वे ही एकमात्र उसके भोक्ता बने रहते। हमारेक प्रत्येक प्राणीको, जिसे भूख लगती है, पेट भरनेका समान अधिकार है।

परन्तु असीम दयालुताके वश होकर ऋषिने इस न्यायपर विचार नहीं किया कि जिस प्रकार प्रत्येक प्राणीके भोजनमें प्रत्येक दूसरे प्राणीका भाग है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणीके उपाजन-परिश्रममें भी दूसरे प्राणीका सहयोग होना अनिवार्य होना चाहिए। विभेक-रहित करुणाका वह आश्रय पाकर दीर्घपुच्छकी परोपजीविता उसी प्रकार बनप उठी जिस प्रकार ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंके खरसको पीकर अमृतबल्ली लहलहा उठती है, या दूसरे प्राणीके रक्तको चूस-चूस कर खटमल, पिस्तू, जोंकें इत्यादि लघु जीव परिपुष्ट होते रहते हैं। और जिस प्रकार उद्यानरक्षक निरपेक्ष होकर अमृत-बल्लीके द्वारा वृक्षोंका शोषण देखता रहता है, या अपने शरीरपर कीटाणुओंको पलते देखकर भी मलिन स्वभावका मनुष्य उन्हें नष्ट करनेका प्रयत्न नहीं करता, उसी प्रकार अपरिमित ज्ञानके भांडार होने पर भी महर्षि तपोधनने चूहेको यथेच्छ मात्रामें अपना अन्न खाने दिया। और, दीर्घपुच्छ भी अनायास आहारप्राप्तिके सुखमें दिन-प्रतिदिन पुष्ट होता गया।

तब एक दिन निरभ्र आकाशसे होनेवाले वज्रपातके समान तपोधनकी निर्जन निरापद कुटीमें हठात् प्रवेश पाकर पिंगलाक्षी नामकी एक बिल्लीने दीर्घपुच्छपर आक्रमण कर दिया। किन्तु, मारनेवालेसे जिलाने-वाला बड़ा होता है, इसी पुरातन विधानको चरितार्थ करता हुआ दीर्घपुच्छ बिल्लीके घातक पंजोंसे निकल भागा। कुटीके बाहर बाल-सूर्यकी किरणोंमें नहाते हुए तपोधन गायत्रीका ध्यान कर रहे थे। मृत्युके

दाढ़ोंसे कतराकर भागते हुए दीर्घपुच्छके चीत्कारसे उनका ध्यान भंग हुआ और एक ही क्षणमें उन्होंने आसन्न परिस्थिति जान ली। पृथिवीके चराचर जीवोंका मंगल चाहनेवाले ऋषिने उसी क्षण दीर्घपुच्छको भी चूहेसे एक मार्जार बना दिया।

तपस्याके द्वारा इस प्रकारके आश्चर्यजनक काण्ड वह कर सकेंगे, तपोधनने यह कभी सोचा न था। उन्हें तो इच्छामात्र हुई थी कि दीर्घपुच्छ भी यदि मार्जार बन जाता। किन्तु मनकी आकांक्षा तपोव्रतका संसर्ग पाकर ऐसा दृश्यरूप धारण कर लेगी, यह विचार तो उन्हें नहीं हुआ था। उन्हें अब सब प्रकारका आत्मविश्वास-सा हुआ कि संसार छोड़कर जो घोर तप किया, वह सचमुच सार्थक था। उन्हें लगा अब वह साधारण मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत एक अतिमानवी शक्तिवाले प्रजापति हैं। वह सृष्टि कर सकते हैं—स्रष्टा हैं—विधाता हैं—।

मूषिकके रूपमें दीर्घपुच्छ किसीके सम्मुख नहीं आता था। किन्तु मार्जार बनकर उसके संस्कार बदल गए। सन्ध्योपासना करते हुए अथवा दूरागत शिष्योंको वेदाध्ययन कराते हुए मुनिके समीप आकर वह बैठ जाता। तपोधन उसे उठाकर गोदमें ले लेते और स्नेहसे उसपर हाथ फेरते। अनेकों बार कहींसे चूहा, अथवा कृकलास, अथवा गिलहरी मारकर दीर्घपुच्छ ठीक पूजाकी वेदीपर जाकर भक्षण करने लगता। मुनि अर्द्धनिमीलित नेत्रोंसे उस ओर देख लेते; और, सोचते कि इसमें उनका क्या दोष? विधाताकी सृष्टिके नियम ही ऐसे हैं! बड़ा जीव छोटे जीवको खा जाता है। बलवान् दुर्बलको परास्त करता है। विधिविधानके इस सत्यका वह किस प्रकार निवारण कर सकते हैं?

किन्तु, पलकोंके अन्दर छिपी हुई महर्षिकी आँखें एक अप्रवृत्त भावनासे चमक उठतीं। तृप्तिसे अपनी मूँछें चाटता हुआ दीर्घपुच्छ जब उनके

पास आकर धुर-धुर करता तो प्रतीत होता जैसे एक विचित्र तृप्ति उन्हें भी हो रही है। मानो एक प्राणीका भक्षण करके केवल दीर्घपुच्छका ही पेट नहीं भरा, प्रत्युत उनके अन्तस्में सुषुप्त किसी अज्ञात वासनाकी भी बुभुक्षा शान्त हो गई है।

धीरे-धीरे आखेटके व्यापारमें तपोधन दीर्घपुच्छको सहयोग देने लगे। कभी कोई बड़ा प्राणी, जैसे शशक इत्यादि, दिखाई देता, तो एक ओरसे दीर्घपुच्छ और दूसरी ओरसे तपोधन उसे घेरते थे। इस कार्यमें बहुधा विलम्ब हो जाता और ऋषिकी मध्याह्न-सन्ध्याका मुहूर्त बीत जाता। इसलिए वह प्रातःकालीन उपासनाके साथ ही मध्याह्न-सन्ध्यासे भी निवृत्त होने लगे। अब उन्हें दिन भर अवकाश मिलता। मार्जारकी गोदमें लेकर वह दिन-दिन भर दंडकारण्यमें विचरण करने लगे। तपसे कृशीभूत उनकी देह वन-भ्रमणके उस आयाससे धीरे-धीरे बलिष्ठ होने लगी। उनकी मांस-पेशियाँ भर आईं। सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंमें सिक कर उनका रंग तपे हुए तौंबेका-सा दिखाई देने लगा। आँखोंमें नई दीप्ति पैठ गई। कभी-कभी मुनिके नेत्र आक्रामक मार्जारकी आँखोंकी भाँति दिखाई देने लगते।

तब एक दिन, अकस्मात् उठते हुए वात्याचक्रकी भाँति तपोधनकी कुटीके चारों ओर एक महान् कोलाहल व्याप्त हो गया। विस्मयसे विशाल नेत्रों भी फैलकर ऋषिने देखा कि एक कुत्ता दीर्घपुच्छका पीछा कर रहा है। भयाक्रान्त मार्जारके शरीरपर सारे रोंगटे खड़े हो रहे थे और उसकी पूँछ स्वाभाविक आकृतिसे फूलकर चौगुनी हो रही थी। उसने मुँह फैलकर पैंने दाढ़ बाहर निकाल लिए थे और वह प्रतिक्षण कुत्तेके आक्रमणकी प्रतीक्षा और अपने बचावकी चिन्ता कर रहा था। महर्षिने देखा तो मनमें दीर्घपुच्छकी जीवन-रक्षाकी बलवती आकांक्षा उदय हो

आई। उन्होंने उसी क्षण कमंडलुमेंसे जल निकाल कर उस ओर छिड़क दिया। कुछ बूँदें कुत्तेके शरीरपर पड़ीं और कुछ मार्जारके ऊपर। कुत्ता स्वभावसे ही शीतल जलके स्पर्शसे डरकर एक ओर जा खड़ा हुआ। किन्तु दीर्घपुच्छके शरीरपर जलकी बूँदोंका स्पर्श होते ही एक आश्चर्यमय काण्ड उपस्थित हो गया। क्षण-भर पहिले जो मार्जार था अब वह एकाएक बलिष्ठ श्वानके रूपमें खड़ा होकर भूँकने लगा। आक्रमणकारी कुत्तेको पहिले तो विस्मय हुआ; किन्तु मनुष्यकी भौंति तर्कबुद्धिका स्वामी न होनेके कारण उसे कदाचित् यही विश्वास हो गया कि वहाँ मार्जार था ही नहीं, प्रत्युत उसमें अधिक बलवान् दूसरा कुत्ता ही था। उसने पंछ हिला कर प्रकट किया कि यदि दोनोंमें मैत्री हो जाय तो अच्छा। किन्तु दीर्घपुच्छने श्वान-योनिमें अभी-अभी प्रवेश किया था, अतएव कुत्तोंके समाजकी संस्कृतिसे वह अनभिज्ञ था। उसने तो अब देखा न ताव, एक चीत्कारके साथ अपने पूर्व आक्रान्ता-पर आक्रमण कर दिया। पहिला कुत्ता प्राणोंको लेकर भागा।

अपने तपोबलके प्रभावसे विजेता आक्रमणकारीको पराजितके रूपमें भाग खड़े होते देख, प्रच्छन्न उल्लासकी एक लहर तपोधनके हृदय-पर खेल गई। इच्छा हुई कि चल कर देखें कुत्तोंके बीच कैसी निपटती है।

ऋषिके सायंकालीन स्नान और सन्ध्योपासनाका समय हो रहा था। भगवान् सूर्यनारायण प्रतीचीके उत्संगमें अपनी परिश्रान्त देह समर्पित कर चुके थे। प्रकाशकी उड़ती हुई सुनहली किरणें वृक्षोंकी फुनगियोंपर क्षण भरके लिए पंख फैलाकर बैठ गई थीं। गोदावरीके वक्षपर सुनइले साँपों-सी छोटी-छोटी लहरियाँ दौड़ती और किलकती हुई किनारेकी सिकतापर जाकर लोट-लोट जातीं। तपोधनको प्रकृतिके सौन्दर्यकी ओर कोई आकर्षण न था। उत्कण्ठाके वशीभूत उन्हें

नथ्यकृत्यका भी ध्यान नहीं रहा। वे मूँजके बने हुए उपानहोंको धारण कर उसी ओर चल दिए जिस ओर एक दूसरेकी जिघांसासे प्रेरित दोनों कुत्ते गए।

कुत्तोंको आँखोंसे ओझल होते देख तपोधन दौड़ने लगे। उनके अधःशरीरमें लिपटा हुआ चीवर वायुके झकोरोंमें फड़फड़ाने लगा। कपाल परसे होकर पसीनेकी बूंदें बह चलीं। श्वास-प्रश्वास तीव्र हो गये। नासा-रन्ध्र यों फूट उठे ज्यों रुधिर-बहते दो गहरे घाव। उन्हें कभी कँटीली झाड़ियोंके पार्श्वसे होकर निकलना पड़ता। शरीर छिड़ कर चलनी हो गया। कई स्थानोंसे रक्तकी धाराएँ बह चलीं। वृक्षोंकी फुनगियोंपर जो प्रकाशकी किरणें ठहरी हुई थीं, वे ओझल हो गईं। गोदावरीकी छातीपर अठखेलियाँ करती हुई लहरें चुपचाप सो गईं। चोरकी भाँति चरण-चाप रखता हुआ अन्धकार दण्डकारण्यकी धरतीपर फैल गया। उस सायंकालको तपोधनकी कुटीमें इंगुदी-तैलका दीपक नहीं जला। वेदिकापर प्रज्वलित गार्हपत्याग्निकी शिखाओंमें विशाल बटवृक्षकी पत्तियाँ चमक नहीं उठीं। तरुणिके कपोलोंपर लटकती अलकावलियों-सी हवन-धूमकी रेखाएँ आकाशमें जाकर नहीं खीं गईं। जगनके कल्याणकी कामनासे तपोधनका जटिल मस्तक विश्वात्माके चरणोंमें नहीं झुक गया। उस रात निद्राका आह्वान करनेसे पूर्व मुनिने मन ही मन प्रार्थना नहीं की कि, हे परमात्मा, अवसर दे कि जीवन देकर भी किसी एक क्षुद्रतम प्राणीकी रक्षा कर सकूँ।

उस अन्धकारमें कँटीली झाड़ियोंको चीरते हुए, अनेकों हिंस्र वन्य पशुओं-को भी अपने वेग और झपटसे भयभीत करते हुए, घोंसलोंमें सोए पक्षियोंमें पंखोंकी फड़फड़ाहट और चीत्कार मचाते हुए, तपोधन दौड़ते चले गए—दौड़ते चले गए—बिल्लीकी आँखोंके समान उनके नेत्र अपना

मार्ग देख सकते थे। वह बारम्बार हाथोंसे भोंहोंपर टपकते पसीनेको पोंछते जाते। उन्हें यह भी ध्यान न रहा कि वह किस लिए इस प्रकार दौड़ रहे हैं। उनके हृदयमें मानो एक दानवी जाग उठी। वह किसीको कहीं मरते देखना चाहते थे। वह किसीको मृत्युपाशमें तड़पते, ऐंठते और कांप-कांप कर प्राण छोड़ते देखना चाहते थे। मानो बुभुक्षसे पीड़ित होकर दानवी अट्टहास कर रही थी। मानों दूरसे सद्यःक्षरित शोणितकी तीव्र गन्ध संसार-भरमें फैल गई हो। शोणितका समुद्र दूरपर लहरें मार रहा हो। मानो वह दानवी अंजलि भर भरकर शोणित पान करना चाहती हो। तपोधनके कानोंमें रह-रहकर एक वाणी गूँज उठती थी।—दौड़, दौड़!—वह मर रहा है!—उसका रक्त पी!!—तू मूटमें पशु है, मनुष्य नहीं—मनुष्य नहीं!—हिंसा तेरा धर्म—रक्त-मांस तेरा भोजन—दौड़—दौड़—

सामने अरण्यकी प्रान्तरेखा थी। उस पार एक ग्राम था। दूर पर किसीके घरमें दीयक टिमटिमा रहा था। निकट पहुँचने पर तपोधनको एक चीख, एक कोलाहल-सा सुनाई दिया। अहंकारको भेद कर उनके नेत्रोंने प्राणघातक जुजुत्सुमें उल्लेख दोनों कुत्तोंको देख लिया। एकाएक उनके शरीरमें दैत्यका संचार हुआ। उन्होंने एक बड़ा पाषाण-खण्ड उठा लिया और दीर्घपुच्छके शत्रु कुत्तेके सिरपर दे मारा। दूसरे ही क्षण दीर्घपुच्छके पैने दाढ़ शत्रुके कंठमें घुस गए। दिशाओंको कंपाता हुआ एक भीषण चीत्कार उठा और खो गया। तपोधनको लगा जैसे वह हँसना चाहते हों, नाचता चाहते हों। वह अट्टहास्य कर उठे। वह मनुष्यका स्वर नहीं था। सुदूर सागर-परवर्ती किसी असभ्य वर्वर देशके वनमातुषकी-सी विजय-गर्जना थी। तपोधन दोनों हाथोंसे अपना वक्ष पीउने लगे, मानो विजय-दुन्दुभि बजा रहे हों।

दूसरे दिन ब्रह्म-जिज्ञासासे प्रेरित होकर कई बटु तपोधनकी कुटीपर आए। उन्होंने आश्चर्यसे देखा कि प्रतिदिनकी भौंति महर्षि अपने आसनपर नहीं हैं। पूजाकी वेदी आज अपरिष्कृत ही पड़ी हुई है। हवनकुण्ड शीतल है; उसमेंसे नील धूमके स्थानपर राख उड़-उड़ कर फैल रही है। महर्षिके द्वारपर एक भीषणकाय कुत्ता बैठा है। जबड़ोंपर रक्त लगा हुआ और वह बारबार उसे चाटता है। बटुओंको देख कर कुत्ता गुराया और उनकी ओर झपट पड़ा। जैसे हरिणोंपर सिंह टूटा हो—। आतंकित होकर ब्रह्मजिज्ञासुओंका दल अपने प्राण बचा कर भाग निकला।

तीसरे दिन तपोधनकी कुटीपर कोई नहीं आया। चौथे दिन, पाँचवें, छठे और दसवें दिन; एक मास, दो मास—वर्षभर—कोई नहीं आया।

तपोधनकी त्रिकाट सन्ध्या वन्द हो गई। गोदावरीके निर्मल पवित्र जलमें स्नान करना स्थगित हो गया। सविताकी उपासना उन्होंने छोड़ दी। गायत्रीके अक्षर वह भूट गए। प्रातःकाल वह उठते और दीर्घपुच्छको लेकर वनमें चले जाते। सायंकाल उनके कन्धोंपर या तो कोई मृत हरिण होता, या कोई शशक या कोई अन्य पशु। कुटीके अन्दर अब भिक्षा या उच्छृत्तिके द्वारा उपार्जित अन्न-भाण्डार नहीं था। जहाँ तहाँ वन्य पशुओंकी सूखी हड्डियाँ बिखरी हुई थीं। रात्रिकी नीरवतामें, हठात् उनकी कुटीसे हड्डी टूटनेका शब्द और कभी दीर्घपुच्छके भूंकनेका भीषण स्वर सुन पड़ता था।

तब एक दिन फिर जीवनके सतत प्रवाहने अपना मार्ग पलट दिया। वनमें विचारण करते हुए एक दिन दीर्घपुच्छ एकाएक ठिठक कर खड़ा हो गया और एक लतागुल्मकी ओर देखकर गुराये लगा। उसके स्वरमें दर्प या चुनौती नहीं थी। उसके तो रोम-रोम प्राण-भयसे काँपने लगे

थे। ऋषिने झाड़ीकी ओर देखा तो वह भी काँप उठे। मृत्युकी भाँति भयंकर एक सिंह वहाँ बैठा हुआ था। दीपशिखा-सी ज्वलन्त उसकी आँखें एकटक दीर्घपुच्छपर लगी हुई थीं। कुत्तेका गुराँना बन्द हो गया। पूँछ गिरकर पिछले दोनों पैरोंके बीच सट गई। एक अस्फुट आर्तनाद-सा रह-रहकर उसके कण्ठसे निकलने लगा।

तपोधन कंठ खवारते हुए, मानो स्वप्नसे जाग कर बोले—“ दीर्घ-पुच्छ, तू भी अब सिंह बन जा ! ”

किन्तु दीर्घपुच्छ सिंह नहीं बना और भागनेको उद्यत हुआ। वह मानो एक चुनौती थी। तपोधनको लगा कि एक स्वप्न समाप्त होने जा रहा है। जैसे उनके अन्दरकी समग्र शक्ति आज निःशेष होकर बह जायगी। वह भरीए हुए गलेसे बोल उठे—“ ठहर ओ दीर्घपुच्छ ! यदि अब भी मेरी तपस्याका कुछ अंश स्वर्गके देवताओंके पास सुरक्षित हो तो, उसके बलपर तू सिंह बन जा और आक्रान्ताको मार कर विजयी बन । ”

तब दण्डकारण्यके उस भागमें तीसरी बार आश्चर्यकी सृष्टि हुई। पलक झपटे ही आक्रमणकारीके सम्मुख उससे भी अधिक शक्तिशाली दूसरा तरुण सिंह खड़ा हो गया। दूसरे ही क्षण दोनों एक दूसरेसे जूझ पड़े। उनकी गर्जना और थपेड़ोंकी भयंकर आघात-ध्वनिसे समस्त वन्य-प्रान्त गूँज उठा। सटाओंके बाल धूलके साथ उड़-उड़ कर आकाशमें फैल गये। एक छोटा-सा झंझावात वहाँपर उठ खड़ा हुआ। मानो दो यमराज एक दूसरेसे लड़ रहे हों। आसपास एक योजन तक जितने भी प्राणी थे—भाग गए। वृक्षोंपर बैठे हुए पक्षी भूकम्प-सा आता समझ कर सुदूर आकाशकी नीलिमामें जाकर छिप गए। केवल एक मनुष्य निश्चेष्ट, निर्विकार वहाँ खड़ा रहा। उसे मृत्युसे भय नहीं था। उसे

जीवनकी भी आकांक्षा नहीं थी। मृत्यु और जीवनके बीचकी सीमारेखा उसके लिए मिट चुकी थी। वह दीपकके समान जलते नेत्रोंसे सिंहोंका युद्ध देख रहा था। उसे बारंबार रोमांच हो आता। बारंबार उसके मुँहसे अस्फुट साधुवादकी ध्वनि फूट पड़ती। दिन समाप्त हुआ। रात आई। युद्ध चलता रहा। वह मनुष्य वैसे ही निश्चल निर्विकार खड़ा रहा। नेत्र उसी प्रकार निर्निमेष खुले रहे। दूसरा दिन आया। दूसरी रात आई। वह खड़ा रहा। आँखें खुली रहीं। तीसरे दिन जब फिरसे सूर्य अस्त हो रहा था तो दोमैसे एक सिंह लड़खड़ा कर पृथिवीपर गिर पड़ा। दीर्घपुच्छ विजयी हुआ। महर्षिका तपोबल तीसरी बार आततायीका विनाश कर सका।

उल्लासका वह क्षण समाप्त भी न होने पाया था कि आश्चर्य और आतंकके एक ही आघातसे तपोधनको लगा कि उनके पैरों तलेकी भूमि पाताल बनी जा रही है। प्रतिदिनकी भाँति पूँछ हिलाकर उनके हाथ चाटनेके स्थानपर दीर्घपुच्छ दुबक कर बैठ गया और लगा कि अब वह ऋषिपर झगट पड़े। महर्षि बोले—“वत्स, दीर्घपुच्छ, मुझे नहीं पहिचानते? मैं तपोधन हूँ, तुम्हें तीन बार जन्म देनेवाला तपस्वी। मुझे नहीं पहिचानते? मैंने ही तो तुम्हें चूहेसे एक महान् शक्तिशाली सिंह बना दिया था।”

उत्तरमें दीर्घपुच्छ उछल्य और चाहा कि एक ही चपेटमें महर्षिका कण्ठ दाँतोंसे जकड़ ले। परन्तु तपोधन शीघ्रतासे एक ओरको हट गए। आतंक और क्रोधसे तड़प कर बोले—“अच्छा रे दुष्ट, जा—फिरसे चूहा बन जा!”

किन्तु, मानो उनके शापको विफल-सा बनाते हुए दीर्घपुच्छने एक चक्र-कठोर गर्जना की। सारा दण्डकारण्य एक छोरसे दूसरे छोर तक

काँप उठा। महर्षिका हृदय मानो हिमशलाकासे बंध दिया गया हो। उन्हें कुछ नहीं रुचा; और वह पीट फेर कर भाग निकले।

फिरसे एक बार उस रातकी भौँति, अन्धकारको चीरते हुए, तपोधन दौड़े। अँधेरेमें उनकी आँखें अम्भस्त हो चुकी थीं। रात्रिकी शीतलतामें भी शरीरसे पसीनेकी अजस्र धाराएँ बहने लगीं। कण्ठ बार-बार सूख जाता। कपोलोंपर बहते पसीनेको जीभसे चाट-चाट कर वह गला सींचते थे। नथुने फूले हुए। लुझारकी धोंकनीकी भौँति श्वास-प्रश्वासकी तीव्र गति। कानोंमें महानदीके प्रवाहकी-सी ध्वनि निरंतर बज रही थी। कँटीली झाड़ियोंसे शरीर क्षत-विक्षत हुआ जा रहा था।

तपोधन दौड़ते चले गए। उन्हें कभी विस्मय होता कि सिंहकी गति उनकी गतिसे कम तीव्र क्यों है? क्यों नहीं अब तक वह उनपर झपट सका? उन्हें लक्ष्य नहीं सूझता था। दौड़नेका प्रयोजन भी समझमें नहीं आ रहा था। एक ही इच्छा, जीवित रहनेकी प्रज्वलित आकांक्षाकी एक ही किरण उन्हें दौड़नेके लिए प्रेरित कर रही थी। हृदय कहता कि जब तक गति है तभी तक जीवन है। जिस क्षण उनके पाँव रुके उसी क्षण उनका जीवन भी समाप्त हो जाएगा। सारी सृष्टिका, विधाताकी इस अनन्त रचनाका एक ही अर्थ उन्हें समझमें आया—जीवन—जीवित रहनेकी इच्छा—जीवित रहनेका शाश्वत प्रयत्न। समग्र वेद, सारे पुराण और धर्मशास्त्रोंका एक यही निचोड़ था। हवनकी प्रत्येक आहुतिमें जीवनका आह्वान था। गायत्रीके प्रत्येक अक्षरमें वही अर्थ था। सूर्यकी किरणोंमें, चन्द्रमाकी चाँदनीमें, ताराओंकी टिमटिमाहट, पृथिवीकी गुरुता और आकाशकी सुनील शून्यतामें उसी एक तत्त्वकी प्रधानता थी। गोदावरीकी तरंगोंमें और मलयसे उटकर बहनेवाले वायुमें वही एकमात्र सन्देश था।—

तपोधन भागते जा रहे थे । तब उस अंधकारमें सामने आकाशकी छूता हुआ वट-वृक्ष, और उसके उत्संगमें मानो भयसे सिमटी हुई अपनी कुटी उन्हें दिखाई दी । जैसे स्वर्ग मिल गया—जैसे जन्म-जन्मान्तरकी तपस्याका मूर्तिमान फल सामने खड़ा हो । तपोधन झपट कर कुटीके अन्दर चले गए । अन्धकारमें टटोल कर उन्होंने अपना कमण्डलु उठाया और धड़कते हृदयके साथ आततायीकी प्रतीक्षा करने लगे ।

कुटीके द्वारपर भारी पैरोंके रुकनेका धमाका हुआ । अन्दरसे काँपते हुए हाथोंमें जल लेकर महर्षिने कहा—“दीर्घपुच्छ, जा, फिरसे चूहा बन जा । ”

किन्तु उत्तरमें दीर्घपुच्छ भीषण गर्जना करता हुआ कुटीके अन्दर आ पहुँचा । महर्षि काँपते हुए बैठ गए । एक बार पुनः कमण्डलुसे जल लेकर उन्होंने सिंहपर छिड़क दिया—“दीर्घपुच्छ, दुष्टात्मन्, महर्षि तपोधन आज्ञा देता है कि तू पुनः मूषिक बन जा । ”

और तब मनुष्यके कण्ठसे उठा हुआ-सा गगन-भेदी अट्टहास्य दण्डकारण्यकी नीरवताको चीरकर चारों ओर व्याप्त हो गया । तपोधनको लगा कि भयको भी मानो डराता हुआ दीर्घपुच्छ देवताओंकी वाणीमें कह रहा है—

“मूर्ख !—मुझे नहीं पहिचानता ? ”

जीवन्मृत ऋषिने आँखें उठाकर उस ओर देखा, और कहा—“कौन हो तुम ? ”

“मैं तेरा अहंकार हूँ, तपोधन !—तू वर्षों तपस्या करने पर भी जिस शत्रुपर विजय नहीं प्राप्त कर सका था, आज वही मैं मूर्तिमान होकर तेरा भक्षण करनेको उपस्थित हो गया हूँ । मुझे पहिचान, तपोधन !—और डर, काँप उठ ! ! ”

तपोधन भराए गलेसे बोले—“ झूठ है ।—तू एक क्षुद्र चूहा है । तू मेरी तपस्याका एक विकृत रूप है, दुष्ट । मैं तुझे फिरसे चूहा बना दूँगा । ”

“ वह तपस्या नहीं थी तपोधन, वह तो मानव-प्रकृतिका एक विकार था । संसारके दूसरे मनुष्योंके प्रति एक प्रच्छन्न घृणा और निम्न-भावनाकी प्रतिक्रिया थी । तू अपने समाजकी सामान्यतासे उठकर अतिमानवता प्राप्त करना चाहता था । संसारके साधारण सुख-दुखसे अकेला ही ऊपर उठना चाहता था । तू उन लोगोंके अश्रु-हासमें हाथ नहीं बँटाना चाहता था जो तेरी ही भौँति मनुष्य हैं । स्वार्थी बालककी भौँति अपने साथियोंसे छिपाकर, एक अक्षय कोनेमें दुबक कर तू मुक्तिकी मिठाई खाना चाहता था ।

“ तू समझता था—और दर्पने तेरी विवेक-बुद्धिपर अज्ञानकी ऐसी सघन यवनिका डाल दी थी कि—तू समझने लगा उस अखिल चराचर सृष्टि-का विधाता तू है । जिनके इंगितपर यह पृथ्वी शिशुओंके क्रीडायोग्य एक क्षुद्र कन्दुककी भौँति गोल घूमती रहती है; जिनकी अक्षर-ज्योतिकी एक ही किरण पाकर यह सूर्य अनन्त काल तक जलता जा रहा है; जिनकी अगाध करुणाकी विच्छुरित बूँदें ताराओंके रूपमें रातभर झिलमिल करती रहती हैं; जिनके स्वासके एक ही झोंकेमें उनचासों पवन इस वटवृक्षकी पत्तियोंके समान काँप उठते हैं और सातों समुद्रोंकी छतियोंपर प्रलयकालकी तरंगें ताण्डव करने लगती हैं—अपने उन स्वामीको तू भूल गया ! ओ रे मनुष्य, तूने समझ लिया कि भिक्षान्नमें एक क्षुद्र चूहेको भी भाग देकर तू स्वर्गके एक खण्डपर साम्राज्य स्थापित कर सकता है ! अरे मूर्ख, तूने यह क्यों नहीं सोचा कि दयाकी वह तेरी भावना प्रच्छन्न घृणाकी—अपनेसे निम्नयोनिके

पशुओंके प्रति क्रूर उपेक्षाका ही दूसरा रूप थी ? तूने यह क्यों नहीं सोचा कि परोपजीवी उस चूहेको नष्ट कर देना ही तेरा प्राकृतिक धर्म था ? अहंकारके वश होकर दूसरेके परिश्रमके बलपर अपना उदर-पोषण करनेवाले प्राणीपर तूने दया की ! मनुष्योंके शत्रुको तूने पाला-पोसा !

“ओ रे मूर्ख, उसी अहंकारके मदमे चूर होकर तूने ऐसे प्राणियोंकी सृष्टि की, जो एक-दूसरेको खा जाते हैं । तूने ऐसे जीव आविष्कृत किए जो एक-दूसरेकी हिंसा करते हैं । तूने संसारमें परम ज्ञानका प्रचार न करके इस सिद्धान्तकी शिक्षा दी कि जो सर्वशक्तिमान् है, वही अन्त तक जीवित रह सकता है । तूने यह घोषणा की कि दुर्बलों, दीनों, दुःखियों, शोषितों और अत्याचार-पीड़ितोंको जीनेका अधिकार नहीं । ओ रे अहंकारी, तूने क्षणभर भी यह नहीं सोचा कि प्राणीमात्र समान हैं । सबको भूख लगती, सबको प्यास लगती और सबको आश्रयकी आवश्यकता होती है । जीवनके तत्त्वपर सबका समानाधिकार है । विधाताके इस शाश्वत नियमके भी ऊपर तूने अपने विधि-निषेध खड़े करनेका प्रयत्न क्यों किया ?

“तुझे तेरे निर्माताने इस लिए सिरजा था कि उसकी सृष्टिमें जहाँ विद्रूप है वहाँ तू सौन्दर्य उत्पन्न करता, जहाँ मृत्यु है वहाँ मुसकानके कमल खिलता, जहाँ भेद है वहाँ समानता; और, जहाँ शोषण है, अत्याचार है वहाँ क्रान्तिका आह्वान करता । और, किया क्या तूने ?—जहाँ विषमता थी वहाँ तूने और भी भेद उत्पन्न किए । जो बलवान् था उसीको तूने अधिक बल पहुँचाया । जो दुःखी थे उन्हींको पीड़ित किया । निर्धनोंको भूखों तड़पाया । मृत्युका सृजन किया—क्रान्तिकी अग्नि बुझा दी—विष उत्पन्न किया ।

“अब तू कमण्डलुकी बूँदोंसे मुझे बुझा सकेगा ? मूर्ख, मैं तो तेरा अहंकार हूँ । तुझे प्रसन्न ही नष्ट हो सकूँगा....”

दीर्घपुच्छने यह कहकर एक दिगन्त-व्यापी गर्जना की । उसी समय एक आँधी उठी । एक बादल छा गया । मूसलधार वृष्टि होने लगी । बिजली चमकी, मानो लौह-तापसे आकाशका वक्ष बीध दिया गया हो । एक कड़कड़ाहट हुई और दूसरे ही क्षण दण्डकारण्यमें, गोदावरीके तीर पर, नक्षत्रोंके मुख चूमनेवाला, शाखाओंसे दिग्बधुओंकी अलकें सहलानेवाला विशाल वटवृक्ष जलकर भस्म हो गया ।

---

## जनताका शत्रु

प्रातः काल हुआ कि नगर-द्वारपर किसीने हथेलीका प्रहार किया और कोई बोला—“उठो सैनिक, द्वार खोलो ।”

सुनकर न जाने क्यों प्रहरीके रोम सिहर उठे । वह मनुष्यका कंठ तो था, किन्तु ऐसा विचित्र स्वर, कि जिसका वर्णन न किया जा सके । नगर-द्वारके बाहरसे कोई बोला था; किन्तु प्रहरीको लगा जैसे वह स्वर ब्रह्माण्डके प्रत्येक भागसे पृथ्वीके प्रत्येक परमाणुसे निकल रहा हो । जैसे उसकी आत्मासे वह आह्वान आया हो । कहा नहीं जा सकता था कि वह धीमा था या तीव्र—मधुर था या कर्कश—एकदेशीय था या सर्वत्र व्याप्त । उसने ससम्भ्रम अपने आयुध सँभाले और पूछा—“तुम कौन हो नागरिक ? प्रातःकाल तो अवश्य हो चुका; किन्तु हमारे नायकके दैनिक आदेश बिना पाये मैं द्वार नहीं खोल सकता । घड़ी-भर और रुको न भाई ?”

“मैं रुकना नहीं जानता सैनिक, तुम द्वार उन्मुक्त न करोगे तो भी मैं प्रवेश कर लूँगा । जो तुम्हें पुकार रहा है, वह सहस्रों वर्षोंमें एकाध बार अतिथि होकर मनुष्यके द्वारपर उपस्थित होता है । द्वार खोल दो और पहिचानो ।”

“नायकको आ जाने दो, नागरिक । मैं उनके आदेशके बिना द्वार नहीं खोल सकता । मुझे दण्डका भागी न बनाओ ।—” प्रहरीने उत्तर

दिया। किन्तु उसे लग रहा था कि बाहरसे जो बोल रहा है, उसकी उपेक्षा कर सकना सामर्थ्यके बाहर है। एक बार यदि और पुकार हुई तो द्वार खोलना ही पड़ेगा।

“दूसरेकी आदेशकी अपेक्षा अपने आपमें एक बन्धन है, और वही संसारमें सबसे बड़ा दण्ड है, सैनिक। तुम जीवन्मुक्त हो, उठो, अतिथिके लिए द्वार खोल दो।”

प्रहरी धीरे-से उठा। कटिवन्धसे चावियोंका गुच्छा निकाला और विशाल नगर-द्वार उन्मुक्त कर दिया। बाहर राजमार्गपर केवल एक ही व्यक्ति खड़ा था। दुर्बल, अस्थिशेष, रक्तहीन, मध्यम आकारका एक मनुष्य। मुण्डितमस्तक, उर्ध्व-देह वस्त्रहीन, अधःशरीरपर घुटनों तक पहुँचनेवाला मोटा चीवर। हाथमें पलाश-दण्ड, पैर नंगे और धूल-भरे—कई स्थानोंपर बिबाइयाँ फट गई थीं। आँखें मानो अतल गहराइयोंसे झाँक रही हों। मानो महासागरके तलमें दो अखण्ड दीपक जला दिए गए, जिनकी ज्योति अगाध नीलिमा और अन्धकारको भेद कर बाहर आ रही थी। मुखपर ऐसा तेज था कि उस ओर देखा नहीं जाता। किन्तु उसमें शीतलता थी, झुलसा देनेवाला प्रताप नहीं। मानो शारदी ज्योत्स्ना फैल रही हो। तेजकी उन किरणोंका स्पर्श पाकर अन्तरका समस्त ताप शीतल हो जाता था। निरन्तर उसी आलोक-वृष्टिमें नहाते रहनेकी इच्छा होती थी।

सैनिक स्तब्ध रह गया देखकर। दोनों हाथ अपने आप जुड़ गए। मस्तक अपने आप झुक गया। इच्छा अनिच्छा, प्रेरणा या निषेधका वहाँ कोई स्थान नहीं। लगा कि सम्मुख जो खड़ा है वह सामान्य व्यक्ति नहीं है। वह महान् है, विराट् है। वह सबको झुका सकता है, सबको उठा सकता है। डरते-डरते प्रहरीने पूछा—“नागरिक—प्रभु, आप कौन हैं?”

“मैं कौन हूँ, मेरा कोई भी नाम नहीं है सैनिक। मेरा कोई निवास

नहीं । मैं सर्वत्र रहता हूँ । इच्छानुसार वेष बदलता रहता हूँ । इच्छानुसार ब्रह्माण्डके किसी भी कोनेमें जा पहुँचता हूँ । आज इस नगरमें आया हूँ । तुम मुझे अपने राजाके पास ले चलो; वह मुझे पहिचानता है । वहीं तुम्हें मेरा रहस्य ज्ञात हो जायगा । ”

“ प्रभु, हमारे नगरमें राजा कोई नहीं है । हम स्वतंत्र नागरिक हैं । हमारे समाजमें गणतंत्रकी स्थापना हो चुकी है । आप कहें तो मैं आपको समासद दुष्यंतके पास ले चढ़ूँ । आज कल वही गणतन्त्रके पहिले नागरिक और सद्गर्भके पुरोहित हैं । हम लोगोंने आजकल उन्हींके हाथोंमें शासन-दण्ड सौंप रक्खा है । ”

“ तो मुझे उन्हींके पास ले चलो, सैनिक । ”

नगरके प्रधान राजमार्गपर आगन्तुक व्यक्ति और प्रहरी चले जा रहे थे । दोनों ओर बड़ी बड़ी अश्लिकायें थीं । प्रातःकालकी सुनहली रश्मियाँ उन्हें उद्भासित कर रही थीं । सिंहद्वारों, तोरणों, स्वर्णनिर्मित स्तम्भोंपर नाना प्रकारकी मणियाँ जड़ी हुई थीं । गवाक्षोंपर चित्रित चीनांशुकोंकी तिरस्करिणियाँ लटक रही थीं । पण्यशालाओंमें संसार-भरकी वस्तुएँ विक्रयहेतु सजा कर रक्खी हुई थीं । मार्गपर सुगन्धियोंका छिड़काव हो रहा था ।

जैसे जैसे वे दोनों आगे बढ़ते जाते थे वैसे वैसे ही उनके चारों ओर उत्सुक नागरिकोंका समुदाय एकत्रित होता जाता था । उस विचित्र आगन्तुकको देखकर वे आश्चर्यचकित थे । वैसी वेष-भूषा उन लोगोंके लिए अभूतपूर्व थी । वे सबके सब सुन्दर कौशेय बलों और मणिजटित बहुमूल्य आभूषणोंसे विभूषित थे । किन्तु उस मनुष्यके शरीरपर एक मोटा-सा अधोवस्त्र लिपटा हुआ था । उन सबके शरीर स्वास्थ्य और यौवनसे तम-तमा रहे थे । उसकी सारी अस्थियाँ एक एक गिनी जा सकती

थीं। फिर भी व्यक्तित्वमें कुछ ऐसा दुर्निवार आकर्षण, कुछ ऐसी महान् भावना, ऐसी विरादता थी कि उसे देखते हो मनका सम्पूर्ण दर्प क्षणभरमें चूर-चूर हो जाता था। महान्से महान् नागरिक भी उसे देख कर यही समझता कि महानताका उससे ऊँचा दूसरा शिखर नहीं हो सकता। उसके तेजके सम्मुख सबकी मुखश्री पीकी पड़ जाती और चमचमाती मणियों और सोने चाँदीकी दीप्तियाँ बुझ जातीं। देखते ही लोग खिचकर उसके पीछे पीछे चलने लग जाते। कोई किसीसे कुछ भी न पूछता। मानो वह व्यक्ति अनादिकालसे अनुगम्य रहा हो। मानो उसका अनुगमन करना ही चराचर सृष्टिका प्रथम धर्म हो।

उसने लौट कर पूछा—“तुम्हारे नगरपर धनके देवताका अत्यंत प्रसाद दिखाई देता है सैनिक। क्या, यहाँ निर्धन कोई है ही नहीं?”

“नहीं प्रभु, सद्गमका कोई भी अनुयायी निर्धन नहीं है।”

“तुम्हारे सद्गमको न माननेवाले भी कुछ लोग हैं?”

“हैं क्यों नहीं। हम लोग उन्हें दस्यु या म्लेच्छ कहा करते हैं। नगरके बहिर्भागमें उन लोगोंकी बस्ती है।”

“तो मुझे उसी मार्गसे ले चलो, सैनिक। तुम्हारे प्रथम नागरिकका आवास अभी कितनी दूर है?”

विस्मयकी एक लहर सुननेवालोंपर दौड़ गई। “म्लेच्छोंकी बस्तीसे होकर चलेंगे? नगरका वह मार्ग तो अत्यन्त मलिन और अपरिष्कृत है। मोर दुर्गन्धिके उधर दिशायेँ सड़ रही हैं। कोई भी नागरिक उधर जानेका साहस कभी नहीं करता। वहाँ दिन दहाड़े हत्याएँ हुआ करती हैं। चौरकर्म और ब्रूत उन लोगोंके मुख्य व्यवसन हैं। उधरसे न जाइए, आर्य।”

“सैनिक, मेरी इच्छाएँ कभी अवरुद्ध नहीं होतीं। क्या उस ओर मनुष्य नहीं बसते ?”

“ब्रमते हैं प्रभु। किन्तु हमारा गणतन्त्र उन्हें मनुष्योंमें नहीं गिनता। भेड़, बकरी इत्यादि प्राणियोंके समान ही उनकी भी मान्यता है।”

“तो मैं उसी ओर चलूँगा। जीनेके अधिकारके बिना जो लोग जिए चले जाते हैं, मुझे उनके दर्शन करने हैं।”

प्रहरीने फिर कोई विरोध प्रकट नहीं किया। नागरिकोंके समुदायमें कानाफूसी होने लगी। “यह कौन है जो दस्युओंकी बस्ती देखना चाहता है !” “कितना तेजस्वी है !” “कितना दुर्बल और धनहीन है !” “मुझे तो लगता है कि कहीं यह भी म्लेच्छ-समाजका ही कोई व्यक्ति न हो, क्या ठीक वहाँ जाकर दस्युओंको गणतन्त्रके विरुद्ध उत्तेजित करने लगे !” “संभव है कि विधर्मियोंका गुप्तचर हो—भेद लेने आया हो।” “समासद दुष्यन्तको इसकी सूचना दे देनी चाहिए।” “हाँ, चलो—चलो—”

नागरिकोंका बृहत् समूह धीरे धीरे तितर-बितर होने लगा। अन्तमें केवल प्रहरी रहा और वह व्यक्ति, जो चुपचाप सिर ऊँचा उठाए म्लेच्छोंकी बस्तीमें चला जा रहा था। वे बड़े-बड़े प्रासाद पीछे रह गये थे। रत्नों और सोने चाँदीकी दीप्तियाँ ओझल हो गईं। मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा, ऊँचा-नीचा और संकीर्ण होने लगा। दोनों ओर पृथ्वीपर सोए हुए-से छोटे छोटे घरोंदे बने हुए थे। खड़े होकर उनके छप्पर देखे जा सकते थे। द्वार इतने छोटे कि बिना बैठे उनमें प्रवेश नहीं हो सकता। घरोंके बाहर कूड़े-कर्कटके ढेर लगे थे। अनेकों प्रकारकी दुर्गंधियोंसे वातावरण फरा जा रहा था। किसी घरसे रोनेका शब्द आता, कहींसे तीव्र अदृहा-स्यकी ध्वनि। कहींपर कोलाहल सुनाई देता—मानो कई व्यक्ति

आपसमें जूझ रहे हों। कहींसे मारने-पीटने, गली-गलौजके शब्द सुनाई देते।

प्रहरीने घूम कर देखा और कहा—“अब लौट चलो प्रभु। यहाँ रहना हम लोगोंके लिए निरापद नहीं है। हम केवल दो हैं। यदि आवश्यकता हुई तो दसुओंका सामना नहीं कर सकेंगे।”

किन्तु आश्चर्यसे देखा कि उस मनुष्यकी मुख-मुद्रामें विचित्र परिवर्तन हो गया है। आँखोंमें एक स्निग्धता छा गई है। रोगी, मुमूर्षु बालकके सिरहाने बैठे हुए पिताकी आँखोंमें जैसी आकुल वेदना और बुझती हुई आशाकी ज्योति झलक उठती है, वैसी ही कोई वस्तु वहाँ दिगवाई दे रही थी। पहिली बार एक अत्यन्त क्षीण मुसकान खिल उठी। पहिली ही बार मोतियों-सा शुभ्र हास उस व्यक्तिके अधरोंपर खेलने लगा। मुखकी सारी कठोर मुद्रा कहीं अदृश्य हो गई थी। अगाध करुणा, अपरिमित स्नेहका प्रकाश वहाँपर छा गया था।

“तुम डरते हो सैनिक ? तो लौट जाओ। मैं अकेला ही रहूँगा।”

“आप अकेले, और निःशस्त्र ? अतिथिको इस प्रकार छोड़ कर कैसे चला जाऊँ प्रभु ? यह सद्धर्मके आदेशोंका उल्लंघन नहीं होगा !”

“तो रहो न ! हमपर कोई भी आक्रमण नहीं होगा। तुम अपने आयुधोंको खोलकर कहीं छिपा दो। वस फिर निर्भय हो जाओगे। शस्त्रोंका अस्तित्व ही हिंसाको आमंत्रण देता है। संसारमें सबसे बलवान् वही है जो निःशंक है, निर्भय है—जो हिंसापर विश्वास नहीं करता।”

सैनिकने फिर कोई आपत्ति प्रकट नहीं की, और शरीरपरसे समस्त आयुध उतार कर एक खंडहरमें फेंक दिए।

“देखो न सैनिक, ऐसा सौन्दर्यशाली दृश्य भला कहाँ देखनेको मिलेगा ?” वह व्यक्ति धीरे धीरे उत्तेजित-सा होता जा रहा था।

बोला,—“तुम्हारे उस नगरमें कौन-सी दर्शनीयता है ? वहाँ मनको विस्मयमें डालनेवाली कौन-सी वस्तु है ? जहाँ आवश्यकतासे अधिक घन होता है वहीं गगनचुम्बी प्रासाद निर्मित होते हैं । वहींपर मणि और कांचनका संयोग होता है और चीनांशुकोंकी कोमल मसृगतामें यौवन और विलासकी निर्लेज क्रीड़ाएँ हुआ करती हैं । जहाँ पेट भरकर स्वादु पौष्टिक भोजन मिले, वहीं स्वास्थ्यकी लालिमा खिल उठती है । वहींपर शक्तिकी उपासना शक्य है और वहींपर शस्त्रोंकी झनकार, युद्धोंका आह्वान और दिग्विजयके संकल्प उठा करते हैं । यह तो कार्य-कारण-परम्परा है सैनिक । अत्यन्त स्वाभाविक । जहाँ आग है वहीं धुआँ दिखाई देता है । तुमने यह न्याय सुना नहीं कभी ? ”

“सुना है प्रभु, किन्तु इस बस्तीमें इस नियमके विरुद्ध कौन-सी विचित्रता आपको दिखाई देती है ? ”

“यहाँ ? यहाँ तो ब्रह्माण्डका सबसे महान् वैचित्र्य उपस्थित है, सैनिक । कभी खिल हुआ कमल देखा है ? ईश्वरकी सृष्टिमें सौन्दर्यके प्रतीक पुष्प माने जाते हैं और पुष्पोंमें सुन्दरतम है कमल । वह सौन्दर्यका राजा है । नए प्रभातका नूतन आलोक और ज्ञानका प्रतीक है । किन्तु वह कीचड़से उत्पन्न होता है । इससे बड़ा और विस्मय कहीं सुना है ? कीचड़, कितना असुन्दर, कितना घृणित ? संसारमें जितनी कुत्सित भावनाएँ हैं—असुन्दरता, घृणा, वैरूप्य, परनिन्दा, कलंककलिमा—उन सबका प्रतीक है, कीचड़ । किन्तु उसीसे कमल उत्पन्न होता है । वही तो विस्मय है । वही तो दर्शनीयता है । विधिकी सामान्य विधान वहाँपर लागू नहीं होता । आग-से-धुआँ निकलनेवाली कार्य-कारण-परम्परा वहाँ परिलक्षित नहीं होती ।

“उसी प्रकार म्लेच्छोंकी इस बस्तीमें भी एक महान् विस्मय दिखाई

देता है। देखो न इन घरोंको। तुम्हारे नागरिकोंके पालतू पशुओं—भेड़, बकरी, कुत्ते, बिल्लियोंके रहनेके स्थान कदाचित् इनसे अधिक बड़े, अधिक स्वच्छ और विस्तृत होंगे। देखो मल-मूत्र-भरी इस पृथ्वीको। वह देखो कूड़ेका कितना बड़ा ढेर है, जिसपर ग्लेछोंके छोटे बालक खोद खोद कर कुछ ढूँढ़ रहे हैं। वह देखो, एक बालकने अधखाई हुई रोटीका टुकड़ा पा लिया। दूसरे बालक उसे छीननेको बढ़े। लो, एक छोटा-सा युद्ध होने लगा है। हो-हो-हो, कितना सुन्दर है !”

सैनिक आश्चर्यसे आँखें फाड़ फाड़ कर देख रहा था। बोला—“मैं नहीं समझ सका। मुझे तो वमन होने लगोगा। जाकर छीन लूँ रोटीका वह टुकड़ा। उसे खाकर ये सब मर जाएँगे प्रभु। वह तो विष हो चुका है।”

“हा: हा: हा:, लगता है कि अब तुम मुझे पहिचानने लगोगे। नहीं, छीनो मत सैनिक। खा लेने दो उन्हें। वे नहीं मरेंगे। कीचड़में कमल-पुष्प नहीं मुरझा सकता। यही तो विस्मय है जिसकी मैं बात कह रहा था। तुम्हारे गणतंत्रके मान्य नागरिक यदि दो दिन यहाँ आकर रहें, तो सबको विसूचिका हो जायगी। जीवित कोई रह नहीं पाएगा। किन्तु ये बालक अमर हैं। जीवनका वास्तविक रूप यही तो है। इस बस्तीमें, कुरूपता और बीभत्सताके इस संसारमें ही जीवनका प्रफुल्लितम पारिजात खिला करता है। यही आश्चर्य है। जीवनका चकाचौंध कर देनेवाला ऐसा तेज भला कहाँ देखनेको मिलेगा? आकाशकी छातीको चीरकर बरसनेवाले वज्रमें इतना ताप नहीं होता। महासमुद्रको एक चुल्हभर जलके समान खौला देनेवाली वादवाग्निमें इतनी आँच नहीं होती जितनी जीवनी-शक्तिमें होती है। मैं यही तो देखना-दिखाना चाहता हूँ। स्वर्ग और नरकमें यही तो अन्तर है। और ग्लेछोंकी यह बस्ती नरक है,

और तुम्हारा वह नगर स्वर्ग। वहाँ वैभव और शक्तिके पाषाणपर जीवनका कमल सिर पटक-पटक कर मुरझा रहा है। यहाँ दारिद्र्य, बुभुक्षा, बहुरोगिता और असहायताके घृणित कीचड़में जीवनका वही पुष्प अपने सहस्रों दलोंको फैलाकर विकसित हो रहा है। उसके चारों ओर रत्नों और सोने-चाँदीकी कठोर प्राचीरें नहीं बनीं। उन्मुक्त वायुमंडलमें वह सौंसे लेता है। आकाशके नीलिम बितानकी छायामें वह पनप रहा है। सूर्यकी अप्रच्छन्न किरणें उसका पोषण करतीं और चन्द्रमाकी चाँदनी उसकी देहमें अमृतका संचार करती है। पृथ्वीका सीधा स्पर्श उसे प्राप्त है; जो उसके चारों ओर अमरताका दुर्मेघ कवच पहिनाए देता है। ”

सैनिक मंत्र-मुग्ध-सा यह सब सुन रहा था। एकाएक वह बोला—  
“ प्रभु, आप कौन हैं ? ”

उस व्यक्तिकी मुखाकृति अकस्मात् फिरसे कठोर हो गई। उसकी आँखोंमें फिरसे वैसा ही अमानुषी तेज झलकने लगा। “ मुझे पूछा नहीं जाता—सैनिक, मुझे पहिचाना जाता है। फाँसीपर झूलते समय तुम भी मुझे पहिचान लोगे ! ”

“ फाँसी ? मुझे फाँसी लगेगी ? प्रभु, यह आप क्या कह रहे हैं ? ”

“ तुम मुझे पहिचानना चाहते हो ? ”

“ हाँ प्रभु ! ”

“ तो मृत्युका वरण करो ! ”

“ प्रभु— ! ”

“ मृत्युसे डरते हो ? ”

“ नहीं। वह तो मेरा व्यवसाय है। ”

“ तो, उसी मार्गसे तुम मुझे पहिचानोगे। जो कोई मुझे जानता है,

उसे मृत्युका आह्वान करना पड़ता है। मृत्यु-भय सबसे बड़ा बन्धन है और मेरा परिचय पाना उस बन्धनसे मुक्त होना है। आओ—”

वे दोनों आगे बढ़े। सामनेसे म्लेच्छोंकी एक भीड़ उस ओर आ रही थी। आगेसे एक व्यक्ति सफेद कपड़ेमें लिपटी हुई गठरी-सी गोदमें लिये आ रहा था। उसके पीछे एक स्त्री भीषण क्रन्दन कर रही थी। कभी बाल नोंचती, कभी छाती पीटती और कभी भूमिपर गिर कर बिना जलकी मछलीके समान तड़पने लगती थी।

वे निकट आए। सैनिकके साथ उस व्यक्तिको देखकर सब लोग ठिठक कर खड़े हो गए। मानो सबपर सम्मोहनका प्रभाव हो गया हो। स्त्रीका रोना-धोना बन्द हो गया। वह आगे बढ़ी। टकटकी लगा कर उस व्यक्तिको देखती रही। फिर पर-कटे पक्षीकी भाँति उसके चरणों-पर गिर पड़ी—

“प्रभु, दया करो, दया करो। मेरा इकलौता पुत्र अकालमृत्युको प्राप्त हो गया है। उसे जिला दो प्रभु !”

उसने पुरुषकी गोदसे गठरी ले ली। वल उठा कर देखा, तो आठ-नौ वर्षके एक सुंदर बालकका शव था। मार्मिक पीड़ाकी एक रेखा मुखपर अमिट रूपसे खिंच गई थी।

“इसे जिला दो। तुम सर्वशक्तिमान हो। मेरे बच्चेको जीवन दान दो, प्रभु !”

“मैं जीवन और मरणका स्वामी नहीं हूँ, माता !”

“तुम भगवान हो, ईश्वर हो। प्रभु, तुम्हारे मुखपर ऐसा तेज है, तुम्हारी आँखोंमें ऐसी शक्ति है, जो मनुष्यमें नहीं दिखाई देती। दया करो देवता, मेरे बच्चेको लौटा दो।”

“झूठ है, माँ। मैं ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकार करता हूँ। मैं सबसे बड़ा मनुष्यको मानता हूँ। उससे ऊपर किसीको नहीं।”

“ तो ..तो ! तुम ईश्वर नहीं हो, तुम मृत्युके स्वामी भी नहीं हो, तो तुम कोन हो ? ”

“ मैं कौन हूँ ? तुम्हारे अकाङ्क्षमृत्युप्राप्त शिशुके मुखपर पीड़ाकी जो एक गहरी रेखा खिंच गई है, वही मैं हूँ । इसकी मृत्युसे तुम्हारे हृदयके अन्दर जो एक विराट् शोक उत्पन्न हो गया है, वह मैं हूँ । तुम्हारा जो मातृत्व आज दिग्भ्रान्त-सा होकर आश्रयके अभावमें हाहा-कार कर रहा है, वह मैं हूँ माता । ”

वह स्त्री किंकर्तव्य-विमूढ़-सी, अभिभूत-सी उस व्यक्तिकी ओर देख रही थी । सामने खड़ी स्लेच्छोंकी भीड़ पत्थरकी प्रतिमाओं-सी निश्चल थी । पार्श्वमें गणतंत्रका नागरिक सैनिक भयभीत-सा सम्भ्रान्त-सा उस व्यक्तिके निकट खिंच आया । उसे न जाने क्या सूझा, कि उसका हाथ थाम कर बोला—

“ प्रभु ! ”

“ चुप रहो, सैनिक । हाँ माता, सुनो मैं कौन हूँ । तुम्हारा यह बच्चा मर गया है । इसीके समान संसारमें लाखों करोड़ों शिशु अकाङ्क्ष-मृत्युको प्राप्त होते जाते हैं । उन्हें, उनके माता-पिताओंको भर-पेट भोजन नहीं मिलता । उन्हें शरीरकी निर्मम लज्जा ढकनेकी पर्याप्त वस्त्र नहीं प्राप्त होते । पाषाणपर जमे हुए हरसिंगारके फूलोंके समान जो प्रस्फुटित होनेसे पहिले ही मुरझा जाते हैं, मैं उन सब बच्चोंकी भूख हूँ ! मैं उनके शोक-संतप्त माता-पिताओंका अभिशाप हूँ ! ”

इतना कह कर उसने सैनिककी बाँह खींची और आगे चल दिया । कुछ दूर जाकर दोनों फिर रुक गये । उस व्यक्तिने पीछे घूम कर देखा और मानो स्वप्नाभिभूत-सा एकाएक कुछ कहने लगा । सैनिककी कुछ समझमें आया, कुछ नहीं । वह विस्मय-विमूढ़-सा सुनता रहा ।

“ देखो सैनिक, संसारकी एक महान् शक्तिका तुमने आज दर्शन किया है। मूढ़ हो तुम, तुम्हें भूमिसात् होकर उसको प्रणाम करना था। उस शक्तिका एक शतांश भी तुम्हें यदि मिल सकता, तो तुम अखिल मनुष्य-जातिके विधाता बन जाते। युगों तक, सदियों तक और कलान्त तक मानवोंका उपकृत समाज तुम्हारा नाम स्मरण कर अपने आपको धन्य समझता। ”

सैनिकने पूछा—“ वह शक्ति क्या थी प्रभु ! ”

“ वह जो स्त्री अपने पुत्रके शवको लेकर उस ओर गई है, आज उसके हृदयमें वह शक्ति आविर्भूत हुई है, जिसे हम ‘ दुःख ’ कहते हैं। उससे बड़ी शक्ति नहीं है तुम्हारे संसारमें। यदि वह जाग सके, यदि वह प्राप्त की जा सके तो सैनिक, यह तुम्हारी मानव-सृष्टि, यह तुम्हारे समाज, राष्ट्र, यह लोक और गणतंत्र, एक ही क्षणके भीतर मिलकर एकाकार हो जायँ। कभी पतझड़से पहिले आनेवाला झंझावात देखा है ? सुना है दूरसे आते हुए उसके भयंकर निनादको ? भूकम्पसे पहिले भीति-श्यामल दिशाओंके रोम-रोम सिहरते देखे हैं ? वज्रपात होनेसे पूर्व आकाशका मेघाच्छन्न वक्षस्थल फटकर टुकड़े-टुकड़े होते देखा है ? और देखा है, सैनिक, फूटनेसे पूर्व किसी विशाल ज्वालामुखीकी छातीमें उमड़ता हुआ उच्छ्वास ? कितनी शक्ति है ! अपरिमेय—अतुल ! किन्तु ये सब मिल कर भी उसकी समता नहीं कर सकतीं। यदि तुम उसे पा सकते, तो तुम्हारा गणतंत्रका यह विशाल प्रवंचनामय मिथ्याचार एक क्षणमें नष्ट हो जाता ! तुम्हारे वैभव-दत्त नागरिकोंके रत्नजटित प्रासाद पल-भरमें धूलि-सात् होकर म्लेच्छोंके इन घरोंदोंके तलपर आ जाते ! ”

सैनिक काँपता हुआ बोला—“ प्रभु प्रभु, यह तो राजद्रोह— ! ”

वह व्यक्ति हँसा। जैसे भाद्रपदके मेषोंपर बिजली तड़प उठी हो। उसका हास्य मानो दर्शों दिशाओंमें व्याप्त हो गया।

“राजद्रोह ? किसका राजद्रोह ? तुम्हारे इस गणतंत्रका ? मूर्ख सैनिक, तुम तो मनुष्य हो। फिर तुम्हारा ही बनाया हुआ गणतंत्र तुम्हारा स्वामी कैसा ? तुमने तो क्रीड़ाके निमित्त एक खिलौना बनाया था, उस गणतंत्रको। वही आज तुम्हारा देवता कैसे बन सका ? तुम्हारी स्वामिनी तो है मनुष्यता। उसकी पूजा करो। हजारों म्लेच्छ उसीके तो रूप हैं। इनकी नग्न छातियोंपर तुम्हारे गणतंत्रकी प्राचीरें बनी हैं। इन्हींके रक्तकण, इन्हींके स्वेदबिंदु, तुम्हारी अट्टालिकाओंके रक्त बन गए हैं। इन्हींकी लज्जा तुम्हारी चीनांशुक-परिधान बनी है। वे हैं तुम्हारे स्वामी, और उन्हींको तुमने ठगकर, रूढ़कर अपना दास बना छोड़ा ! इससे बड़ा राज-द्रोह और क्या हो सकता है ?

“जितना अन्याय मनुष्योंके समाजमें होता है, उतना चराचर सृष्टिमें कहीं नहीं होता। दूसरे प्राणियोंको देखो। कहीं भेद-भाव नहीं। दूसरे प्राणोंके मूल्यपर स्वयं जीनेकी भावना कहीं भी नहीं। आवश्यकतासे अधिक भोजन, आवश्यकतासे अधिक स्थान कोई नहीं चाहता। उन वृक्षोंको देखो। सूर्यकी किरणोंका सब समान उपभोग करते पृथ्वीसे सब समान रूपमें रस खींचते हैं। उनमें कहीं कभी किसी गणतंत्रकी स्थापना नहीं हुई। एक विशेष प्रकारके कुत्तोंने, अथवा विशेष प्रकारके घोड़ोंने यह कभी नहीं कहा कि उन्हें जो सुविधायें प्राप्त हैं वे दूसरे प्रकारके कुत्तों अथवा घोड़ोंको नहीं प्राप्त हो सकतीं। ये अनेकों प्रकारके राजतंत्र और वादविशेष मनुष्यके अन्तर्गत स्वार्थपूर्तिकी भावनाओंके अनुभाव मात्र हैं। ये डाकुओंके दल हैं जो निःशस्त्र, निर्दोष व्यक्तियोंको छूटते हैं। उनमें सत्यता नाम मात्रको भी नहीं।

“ सत्य तो है मनुष्य । सत्य है मनुष्यता । प्रत्येक मनुष्य अपने आपमें सर्वतोमुखी सम्पूर्णता लिए हुए है । उसे किसी भी शासन-तंत्रकी आवश्यकता नहीं है । ”

उसी समय सामनेसे दौड़ते घोड़ोंकी टापें सुनाई दीं । घूमकर देखा तो कई अश्वारोही सरपट दौड़ते हुए उसी ओर चले आ रहे थे । सबसे आगे एक व्यक्ति श्वेत रंगके घोड़ेपर बैठा हुआ था ।

“ मभासद दुःखान्त आ पहुँचे । प्रभु, अब मैं नहीं बच सकता ! ”

उत्तरमें वह व्यक्ति हँस दिया ।

“ ग्लेच्छोंकी वस्तीमें विना प्रधानकी आज्ञाके आना भीषण अपराध है । मुझे प्राण-दण्ड मिलेगा । ”

उत्तरमें वह व्यक्ति हँस दिया ।

“ प्रभु, अपना परिचय दे दो । मैं सुखसे मर सकूँगा । मुझे रंचमात्र भी पश्चात्ताप नहीं कि आगंक साथ इस ओर आया । आज मेरे मनके भीतर नया दृष्टिपथ खुल गया है । मेरा उद्धार हो चुका है, प्रभु । किन्तु यदि आपका परिचय नहीं मिला तो मुझे मरते समय भी शान्ति नहीं मिलेगी । ”

उत्तरमें वह व्यक्ति हँस दिया, और बोला—“ तुम मुझे अवश्य पहिचानोगे । किन्तु अभी नहीं । कल प्रातःकाल, जब तुम्हारे गलेमें फाँसी-का फन्दा कस उठेगा । जब तुम्हारे प्राण विवश होकर इस शरीरको छोड़ भागना चाहेंगे । जब जीवन और मरणके बीचकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सीमा रेखा तुम्हें राजमार्ग-सी प्रशस्त दिखाई देने लगेगी, उस समय तुममें मेरे रूपका प्रादुर्भाव होगा । उसी समय तुम मुझे पहिचान लोगे । प्रत्येक प्राणी मुझे ऐसे ही अवसरपर पहिचानता है । संसारकी प्रत्येक वस्तु मुझे इसी प्रकार पहिचानती है । दिन जब रात्रिमें परिणत होता है, या रात्रि दिनमें । कली जब खिल कर फूल बनती है या फूल मुरझाकर

‘फल बनते हैं; जब शैशव विकसित होकर यौवनमें परिवर्तित होता है, अथवा यौवन ढलकर वार्द्धक्यका रूप धर लेता है; जब शान्त सृष्टिपर काली-काली आँधियाँ बहने लगती हैं; जब पतझरके पीले-पीले पत्ते उस आँधीमें इस प्रकार उड़ते हैं ज्यों अभागो मनुष्यकी आशाएँ; जब उन पीले पत्तोंका स्थान लाल-लाल नए कोंपल ले लेते हैं; जब पृथिवीकी गुरुता ढिगने लगती है; जब राष्ट्रोंकी मर्यादा टकरा-टकरा कर एक दूसरेसे एकाकार होने लगती है; जब मनुष्य उन मर्यादाओंको यों कुचलने लगता है, मानो वे सब विषैली नागिनें हों, जब मनुष्य ऊपर, बहुत-ऊपर, बहुत ऊपर उठकर चिछा उठता है—“बस, मैं हूँ, ” उसी समय मैं पहिचान लिया जाता हूँ । ”

अश्वारोही सिरपर आकर खड़े हो गये । सैनिकने चौंक कर देखा कि वह व्यक्ति नहीं है । वह एक बार काँप उठा और दूसरे ही क्षण लगा कि उसका अन्तर्बाह्य वज्रका बन गया है ।

“ नागरिक चक्रधर, तुम्हारे साथका वह व्यक्ति कहाँ है ? ”

“ यहाँ तो कोई व्यक्ति नहीं है, सभासद ! ”

तुम झूठ बोलते हो ! तुमने उसे छिपा दिया है ! वह दस्युओंका गुप्तचर था और जनताका शत्रु ! ! ”

“ आप मिथ्या प्रवचन कर रहे हैं, आर्य ! ” चक्रधरने सिर ऊँचा उठा कर कहा—“ जनताका उससे बड़ा बन्धु दूसरा कोई नहीं है । ”

“ नहीं । वह जनताका शत्रु है । गगतंत्रके पवित्र सैनिक होनेपर भी तुमने अपने कर्त्तव्यका उल्लंघन किया । तुमने शत्रुओंके चरको अपनी आत्मा बेच दी । तुमने जनताके शत्रुको सहयोग प्रदान किया । तुम जनताके शत्रु हो । सैनिको, पकड़ लो जनताके शत्रुको । कल प्रातःकाल इसे फाँसीपर लटका दो ! ”

और दूसरे दिन जनताके शत्रुको फाँसी दे दी गई ।

## एकलव्य

हस्तिनापुरकी रंगशालामें एक दिन एक छोटी-सी किन्तु अभूतपूर्व घटना हो गई। उन दिनों एक प्रतिभाशाली ब्राह्मण निर्धनता और बुभुक्षासे पीड़ित होकर कौरवोंके आश्रयमें जीविकोपार्जन करने लगा था। ब्राह्मणका स्वाभाविक अहिंसा धर्म छोड़ कर उसने क्षात्रधर्म अंगीकार कर लिया और कौरवों तथा पाण्डवोंको धनुर्विद्या सिखाने लगा। उसकी सिखाई विद्यासे इस देशमें जो भीषण घटनाएँ घटीं, मनुष्यता उन्हें कभी नहीं भूलेगी। जिस प्रकार गहरा घाव सूखनेपर भी उसका चिह्न मृत्युपर्यन्त अमिट रहता है, उसी प्रकार महाभारतका युद्ध मानव-स्मृतिके इतिहासपर अपनी स्थायी छाप छोड़ गया है। उस ब्राह्मणका नाम था द्रोण—द्रोणाचार्य।

जिस दिनकी यह कहानी है, उस दिन प्रातःकालके समय रंगशालाके द्वारपर एक अनार्य आ खड़ा हुआ। शरीरका रंग कौचेके पंखों-कासा—आँखें उसकी लाल-लाल मानो मदिरा पीकर आया हो—कुंचित केश भौंरों-से काले और कन्धोंपर लहराते हुए—कानोंमें सुवर्णके भारी-भारी कुण्डल—शरीरपर व्याघ्र-चर्म—पीठपर तणीर—कन्धेपर धनुष—नंगे पैर—नंगे सिर। प्रतीहारसे जब वह बोला तो लगा जैसे किसीने चाँदीकी वंशी फूँक दी हो—मानो उसकी वाणीमें मधु धुल्य हो। भाषा अत्यन्त सुसंस्कृत—एक एक शब्द इतना संतुलित और इतना रोचक जैसे मोतीको चमकीली वूँटें।

“ प्रतीहार, क्या तुम मेरा एक प्रिय कार्य कर सकोगे ? ”

प्रतीहार आयोंका दासानुदास था । जन्मसे कठोर-कर्कश आदेशोंको सुननेका अभ्यासी । उस कुदर्शन युवकके मुँहसे स्निग्ध सम्बोधन सुन कर वह सकपका गया । बोला—“ तुम—आप—कौन हैं ? ”

“ मैं एक अनार्य हूँ, प्रतीहार । देग्वते नहीं मेरा रूप-रंग, मेरी वेश-भूषा ! यह विशाल देश अनार्योंसे भरा पड़ा है । तुम मुझे पहिचान नहीं सकते ? ”

“ सा तो पहिचानता हूँ । किन्तु आपका नाम ? ”

“ मुझे मेरे माता पिता और बन्धु-बान्धव एकलव्य कहकर पुकारते हैं, भाई, और मैं भीलोंके राजा हिरण्यधनुका पुत्र हूँ । ”

“ भीलोंका राजा ? क्या आपके पिता महाराज वृतराष्ट्रके सामन्त अभी नहीं बने ? ”

“ नहीं, प्रतीहार ” एकलव्यने कुण्डलोंसे सुशोभित अपना मस्तक उठा कर कहा,—“ इसी लिए तो मलयानिलके झोंकेकी भाँति स्वच्छन्द मैं आज यहाँ खड़ा हूँ । मेरे देशमें अभी आयोंके पुनीत पदचिह्न नहीं पहुँच सके । और, कभी पहुँच न जायँ, इसी आतंकसे व्याकुल होकर मैं आज यहाँ आया हूँ....” कहते कहते वह रुका, और ससम्भ्रम कहने लगा,—“ बड़ी दूरसे चल कर आया हूँ, प्रतीहार । ओह, कितना विशाल देश है हमारा ।—तुम मेरा एक प्रिय कार्य कर सकोगे, सैनिक ? ”

“ कहिए, यदि अशक्य न हो—”

“ आचार्य द्रोणके चरणकमलोंमें हिरण्यधनुके पुत्रका प्रणाम पहुँचा सकोगे ? ”

प्रतीहार सकपकाया। बोला—“भाई, मेरे वशकी बात होंती तो केवल आपका प्रणाम ही नहीं, आपको भी आचार्यके पाम पहुँचा देता। परन्तु...”

“परन्तु क्या ?”

“...भाई, रंगशालाके भीतर किसी भी आर्येतर व्यक्तिको जानकी आज्ञा नहीं है। मैं कर ही क्या सकता हूँ ?—मैं तो एक अधम अनुचर मात्र हूँ।”

अनार्यकी आँखोंमें विजली कौंध गई। तीव्र भावनाओंको दबा कर उसने कहा—“प्रतीहार, भाई, मैं बड़ी दूरसे आ रहा हूँ। अब विफल-मनोरथ होकर यहाँसे लौट जाऊँ तो अपने देश तक पहुँचना मेरे लिए बड़ा ही कष्ट-प्रद होगा। तुम जाकर आचार्यसे निवेदन कर तां दो। यदि वह भी अस्वीकार कर दें तो मैं चला जाऊँगा।”

“नहीं भाई, असम्भव है मेरे लिए। आप यहीं बैठिए—जब तक चाहें मुझीसे वार्ताग्रय कीजिए। किन्तु रंगशालामें प्रवेश—”

एकलव्यने एकाएक आगे बढ़कर द्वारपालकी बाँह पकड़ ली और छोटे-से बालककी भाँति उसे उठाकर एक ओर कर दिया। “प्रतीहार, मलयानिलका झोंका जब प्रभञ्जनका रूप धारण कर लेता है तो उसे रोक रखना दानवोंके लिए भी शक्य नहीं है।—” यह कहकर, जब तक द्वारपाल सँभले कि एकलव्य अन्दर चला गया।

गोलाकार अखाड़ेके चारों ओर कोई सवा सौ राजकुमार अपने-अपने शस्त्रोंसे सज्जित हो खंड थे। एक ओर द्रोणाचार्य ऊँचे आसनपर बैठे उन्हें कुछ आदेश दे रहे थे। एक अनार्यको अप्रत्याशित रूपसे रंगशालामें प्रवेश करते देख सबको सब चकित हो गए। आचार्यने अपना प्रवचन स्थगित कर दिया।

आगन्तुक धीर-गम्भीर गतिसे उन तक पहुँचा और प्रणाम करके बद्वांजलि हो आचार्यके सम्मुख खड़ा हो गया। सब लोग कुतूहलसे प्रेरित होकर निकट खिंच आये। आचार्यने कहा।—“तुम कौन हो, अनार्य ?”

एकलव्य मुसकराया, मानो काजलके ढेरपर पिघली हुई चाँदीकी रेखा खिंच गई हो। बोला—“गुरुदेव, अनार्य भीलोंके राजा हिरण्य-धनुका पुत्र एकलव्य इस अनधिकार-प्रवेशके लिए क्षमा याचना करता है। आर्य, हस्तिनापुर आकर ही मुझे ज्ञान हुआ कि संसारमें दो प्रकारके मनुष्य रहते हैं। एक वह, जो वायुके समान स्वच्छन्द हैं। उनकी गति सर्वत्र है। वह सर्वशक्तिमान हैं। प्रकृति और मानव-सृष्टिकी समस्त विभूतियोंपर उन्हीका एकाधिकार है। दूसरे वे लोग हैं जो अपवित्र कुत्तोंके समान अस्पृश्य हैं; महामारीके कीटाणुओंके समान घृणित और अवांछनीय है। उनके प्रत्येक पदचापपर निषेध और अटूट नियमोंकी लौह-शृंखला पड़ी हुई है। वे इच्छानुसार चल-फिर नहीं सकते; रुचिके अनुसार भोजन-वस्त्र नहीं प्राप्त कर सकते; स्वतंत्रतासे जी नहीं सकते। और, मुझे ज्ञात हुआ कि मैं भी इन दूसरे प्रकारके मनुष्योंमें हूँ। मुझे ये सारी बातें अच्छी नहीं लगीं, आर्य। मैं तो आप लोगोंके विधि-निषेधोंको अप्राकृतिक और असम्भव मान कर सीधा यहाँ चला आया।”

आचार्यने पूछा—“यहाँ आनेका तुम्हारा क्या प्रयोजन था, एकलव्य ?”

“गुरुदेव, जिस प्रकार अमावास्याकी रात्रिमें रजनीगन्धाका सौरभ दशों दिशाओंमें व्याप्त हो जाता है और उसका अनुभव करनेवाले प्राणी वहाँ तक पहुँचनेके लिए व्याकुल हो उठते हैं, उसी प्रकार आपकी

पवित्र कीर्ति दक्षिणात्यकी गोदमें छिपे हमारे उस देश तक पहुँची, तो लोगोंके हजार विरोध करने पर भी मैं आपके दर्शनोंके लिए उन्मत्त-सा होकर चला आया। मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ, आर्य।”

राजकुमारोंकी पंक्तिमें एक प्रच्छन्न उद्वेग-सा फैल गया। कानाफूसी होने लगी। कोई हँसा; कोई क्रोधसे तमतमा उठा; कोई विस्मय और उत्कण्ठासे उद्ग्रीव होकर सुनने लगा।

“हूँ।—देखो युवक, तुम्हारी आकांक्षा बुरी तो नहीं है।”—आचार्य कड़ने लगे,—“किन्तु आर्योंके धर्मशास्त्रका तुम्हें ज्ञान नहीं है। अन्यथा तुम्हें यहाँ तक आनेका कष्ट ही न करना पड़ता। देखो, हमारे धर्मशास्त्रमें अनायोंको धनुर्वेद सीखनेका अधिकार नहीं है। यह विद्या यद्यपि अत्यन्त पुरातन है, फिर भी उसका विकास और अनेकों मंत्राल्लोंका आविष्कार आर्योंने किया है। अतएव उसपर उन्हींका एकाधिकार है।”

“आचार्य, संसारकी समस्त विद्या और कला प्राकृतिक वस्तुएँ हैं। पंचतत्त्वोंके समान मनुष्य-जीवनमें उनका समावेश तो है किन्तु उनपर एकाधिकार किसी एक व्यक्ति अथवा जाति अथवा राष्ट्रका नहीं हो सकता। आपके उस आर्य-शिष्यकी चमकती तलवारमें जो लोहा है वही मुझ अनार्यके पैने तीरोंमें भी विद्यमान है। एक-सी कुशलताके साथ ये दोनों शस्त्र नर-संहार कर सकते हैं। परन्तु आप चाहें कि लोहेसे केवल आर्योंके शस्त्र बन सकें और दूसरेके नहीं—तो आपकी यह चुनौती असम्भव सिद्ध होगी, आर्य।”

“हूँ!”—आचार्यने कोई उत्तर नहीं दिया।

“गुरुदेव, मनुष्यको जितनी भी विद्याएँ और कलाएँ प्राप्त हुई हैं, वे सब इस विराट् प्रकृतिकी अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। वे सब प्रकृतिकी

विभिन्न भावनाओंकी दृश्य अनुभाव हैं। मनुष्य उनका माध्यम है, जिसके द्वारा वे व्यक्त रूपको प्राप्त होती हैं। आचार्य, प्रकृतिमें जब पोषणकी भावना उद्बलित होती है तब आम्रवृक्ष पीले-पीले रसमय फलोंसे यों झुक पड़ते हैं, मानो पृथिवीको चूमना चाहते हों; तब पके हुए धानकी बालें झूम-झूमकर प्राणियोंको आमंत्रण देती हैं। जब प्रकृतिमें करुणाका संचार होता है तब बड़े-बड़े पर्वतोंकी छातियाँ विगलित हो उठती हैं और छोटे-बड़े झरनों, नदियों आदिके रूपमें करुणाकी वह भावना पृथिवीके सतापको धोनेके लिए दौड़ पड़ती है। यदि आम्रवृक्ष चाहे कि फलोंके रसको स्वयं चूस ले; यदि नदियाँ चाहें कि सारे जलको स्वयं ही सोख लें तो एक असम्भव परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी। क्योंकि उन्हें ऐसा करनेका अधिकार नहीं है। वे तो माध्यम-मात्र हैं, जिनके द्वारा प्रकृतिके विभिन्न रूपोंको अभिव्यक्ति मिलती है। ऐसा भी नमय आता है जब वृक्ष फल नहीं देते; जब नदियाँ सूख जाती हैं। तब प्रकृतिविपर्यय उपस्थित होता है। संसारमें व्याखोंकी संख्यामें प्राणोंका विनाश होता है।

“गुरुदेव, उसी प्रकार अनेकों विद्याएँ, कलाएँ, विज्ञान और साहित्य आपकी अपनी वस्तुएँ नहीं हैं। वे प्रकृतिकी हैं। आप ब्राह्मण हैं—मनुष्योंने आपको प्रकृतिकी इन भावनाओंको अभिव्यक्त करनेका माध्यम चुना है। आप उसे किसी व्यक्ति-विशेष अथवा जाति-विशेषके लिए सीमित नहीं रख सकते।”

आचार्य कई क्षणोंतक अवाक् होकर बैठे रहे। फिर बोले—“युवक तुम अत्यधिक वाचाल हो। देश, काल और पात्रके ज्ञानके बिना बोलना असभ्यता और बर्बरताका परिचायक है।—तुम मेरे शिष्य बनने आए हो, या मेरे गुरु ?”

“क्षमा हो, गुरुदेव,”—एकलव्यने किंचित् निष्प्रभ-भा होकर कहा—“क्षमा हो, आचार्य, मैं मूर्ख हूँ । मेरे उस देशमें अभी सभ्यता और ज्ञानका प्रकाश नहीं पहुँच सका । इसी लिए तो इतनी दूरसे, अनेक आपत्तियोंका सामना करते हुए, प्राणोंका कई बार मृत्युके मुँहमें झोंकते हुए मैं यहाँ तक आया हूँ । आपने यह तो स्वीकार कर लिया है कि मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ । कृपिण देव, क्या मुझपर इतना अनुग्रह करेंगे ? ”

“नहीं, अनार्य, मैं एक बार कह चुका हूँ—नहीं,” द्रोणाचार्य बोले; “जो तर्क तुमने अपनी पुष्टिमें दिए हैं, मैं उन्हें नहीं मानता । विद्या और ज्ञान प्राकृतिक शक्तियाँ अवश्य हैं किन्तु मनुष्य उनका माध्यम ही नहीं, प्रत्युत आश्रितकारक और नियन्ता भी है । प्रकृतिका रूप केवल कल्याणकारी ही नहीं, संहारक भी है । जिन नदियोंका तुमने उदाहरण दिया है, वे जब बाढ़में आती हैं तो एक क्षणिक प्रलय संसारमें उपस्थित हो जाता है । मनुष्य उसका बाँध बना कर, नहरें निकाल कर नियंत्रण करता है । तब उससे कहो, अपने नियंत्रित जलका सबको उपयोग करने दो । वह विद्रोह कर उठेगा । अपने-पराए प्राण देने लेनेको उद्यत हो जायगा ।

“युवक, तुम मूर्ख नहीं हो । तुम चतुर हो—बुद्धिमान हो । तर्क-संगत बातें करना जानते हो । इतनी दूरसे अनेकों प्रकारके कष्टोंको वहन करके तुम यहाँ व्यर्थ ही नहीं आये । तुमने देख लिया है कि कई सौ वर्ष पहिले गाय-भैंसोंको चराते हुए जो आर्य अत्यन्त निरीह दशामें उत्तरापथकी सीमा पार कर सके थे, आज सारे आर्यावर्तमें उनका एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया है । अब, भिल्लराज हिरण्यधनुके पुत्रको यह आशंका है कि आर्योंकी विजय-वाहिनी किसी दिन बने-बने अनन्त

जंगलोंकी ओटमें छिपे उसके देशकी ओर प्रयाण न कर बैठें । है न, अनार्य, यही बात है न ? तुम अत्यधिक चतुर हो । आयोंकी युद्धविद्या हस्तगत करके तुम उन्हींके विरुद्ध विद्रोहकी वंशी फूँकना चाहते हो ! चले जाओ, उद्धत युवक, यह रंगशाला है । शिक्षा-दीक्षाका पवित्र स्थल है । नहीं तो दम्भुओंके चरके रक्तसे यहाँकी पृथिवी कभीकी रंग गई होती । ”

एकलव्यका मुख तमतमा उठा, मानो प्रातःकालीन घटाओंपर उषाकी लालिमा फैल गई हो । बोला—“ नहीं, आचार्य, वसुन्धराका शृंगार केवल अनार्यके रक्तसे ही नहीं होता । एकलव्य जहाँ सुखसे मरना जानता है, वहाँ बड़े ही चावसे दूसरेके प्राण भी ले सकना उमने सीखा है । किन्तु, जाने दीजिए इस विषयको । मैं जाता हूँ विफलमनोरथ । परन्तु, मेरे संकल्पको कोई मिटा नहीं सकता । जिस युद्धविद्याको आपके आर्य शिष्य हस्तिनापुरमें सीख रहे हैं, मैं उसे अपने आप सीख लूँगा । ”

एकलव्य चुनौती-सी देता हुआ चला गया । क्रोध और घृणाकी अग्नि उसके अन्तर्महलमें जल उठी । वह खीझ उठा अपनी उस मतिपर जिसने उसे हस्तिनापुर आनेकी प्रेरणा दी थी । आज सैकड़ों नेत्रोंके देखते-देखते एक मनुष्यने उसे अमानव घोषित कर दिया था । उसके उपरान्त कई दिनों तक एकलव्य अपमान-जनित भीषण दुःखसे पीड़ित रहा । कई बार वह सोचता कि अपमानका प्रतिकार करे । आयोंकी अनन्य प्रभुताके विरुद्ध विद्रोह खड़ा करे । किन्तु अपने असहाय एकाकीपनका स्मरण उसे होता और प्रतिशोधकी अग्नि बारबार सुलग-सुलग कर बुझ जाती । अन्तमें एकलव्यने जंगलके एकान्त कोनेमें मिट्टीका एक पुतला बनाया । उसका नाम रक्खा—आचार्य द्रोण । कितनी ही बार उसने सम्पूर्ण मूर्ति बनाई और कितनी ही बार

आक्रोशमें भर कर तोड़ दी। वह मूर्तिके सामने मुट्टियाँ बाँधकर खड़ा हो जाता। दौत पीसकर कहता—“क्रीतदाम ब्राह्मण! तुमने अपनी आत्मा रोंटीके थोड़ेमे टुकड़ोंके लिए बेच दी है। तुमने सत्तामे चौधियाँ कर अपना धर्म भुला दिया। तुम स्वादु भोजन, सुन्दर आवास और कौशेय वस्त्रोंके निमित्त, अपने अन्नदाता प्रभुवर्गकी प्रसन्नता पानेके लिए मनुष्योंका अपमान करना सीख गए! मैं प्रतिशोध लूँगा—आचार्य, मैं ऐसा कुछ करूँगा कि कल्पान्त तक मानवोंका समाज तुम्हारे किए अपमानकी नहीं भूलेगा।” किन्तु दूसरे ही क्षण उसपर निरीहता और असहाय-अवस्थाकी अनुभूति छा जाती। वह हाथ जोड़कर, नत-जानु, नत-मस्तक होकर मूर्तिके आगे बैठ जाता—“क्षमा करो गुरुदेव, अज्ञान और भावावेशमें आकर मैं अनर्गल प्रलाप करने लगा था। आप तो मेरे गुरु हैं। मैं तो इसी रूपमें आपका वरण कर चुका हूँ। परोक्ष भी आपकी प्रतिभाको देख-देख कर मुझे प्रेरणा और स्फूर्ति मिलेगी। मैं आपका ही शिष्य बनूँगा देव, मुझे ईश्वर शक्ति देगा कि इतने बड़े आदरका पात्र मैं बन सकूँ।”

फिर अकस्मात् अपमानकी अनुभूति चोट खाई हुई सर्पिणी-सी फन पटक कर उठ खड़ी होती। एकलव्य उस निर्जन अरण्यमें सिंह-शवक-सा गरज उठता और मिट्टीके पुतळेको अंगुली दिखा-दिखा कर कहता—“वहीं बैठे रहो, ब्राह्मण। मैंने तुम्हारी कुरूप प्रतिमा गढ़ कर इस लिए स्थापित की है कि तुम्हें देख-देख कर मुझे उस व्यक्तिका ध्यान बना रहे, जो बड़े ही सुखसे, बिना किसी संकोचके एक दूसरे मनुष्यका अपमान कर सकता है; जो स्वयं अपदार्थ है, और अपनी आत्मा खोंकर मिथ्या आचरण करता है। तुम्हें देख-देख कर मुझे यह स्मरण आता रहेगा कि मनुष्यके सामान्य अधिकारोंसे मैं किन प्रकार वंचित किया गया हूँ।

धर्मशास्त्रोंका नाम लेना, वह एक ढकोसला था। अनार्यको धनुर्वेदका अनधिकारी बनानेवाले शास्त्र आर्योंकी विश्व-विजय-नीतिके ग्रन्थ हैं। ये शास्त्र विजयीके अभेद्य कवच हैं, और पराजितके विनाशके अस्त्र। तुम्हारी मूर्तिसे मुझे सदा यह विचार आता रहेगा कि जब तक तुम जैसे व्यक्तियोंका अस्तित्व है, तब तक मुझे, मेरी जाति और मेरे प्रदेशको आर्योंद्वारा पद-दलित होनेकी आशंका है। मैं यह नहीं होने दूँगा। जीवित रहते तो नहीं होने दूँगा।”

इस प्रकार अपने देशसे योजनां दूर, माता-पिता, बंधु-बान्धवोंके स्नेह-पाशसे विरक्त अकेला, असहाय अनार्य एकलव्य निर्जन अरण्योंमें धनुर्विद्याका अभ्यास करता रहा। उसे शिक्षा देनेवाला कोई न था। सीधा सच्चा मार्ग दिखानेवाला कोई सहायक नहीं था। प्रत्युत चारों ओर आशंकाएँ मुँह बाये खड़ी रहतीं। यह मर्यादा-पुरुषोत्तमका देश था। यहाँके नियम, यहाँके विधि-निषेध अटूट थे; अधिकार और अनधिकारकी परिभाषायें अलंघ्य थीं। गूढ़ शंबूकको इसी देशमें अनधिकार तपस्या करनेपर प्राणदण्ड मिला था। इसी देशमें क्षत्रिय राजा विश्वामित्रने ब्राह्मणोंके विरुद्ध विद्रोह किया और उनके गूढ़ रहस्योंपरसे अज्ञेयताकी यंत्रिका उठा देनेकी चाही। ब्राह्मणों और उनके देवताओंने उस विद्रोहीको कई बार पतनके गढ़में गिराया—क्रोध दिलाकर तपस्या नष्ट की—षड्-यंत्रोंके द्वारा उसके बनाए हुए नूतन विश्वको तोड़-फोड़ दिया। इसी देशमें एकलव्य केवल अपने मनोबलके द्वारा आर्योंकी वर्जित विद्याका अभ्यास करने लगा। वह उस शिशुके समान था जो बार-बार खड़े होकर दो पग चलना चाहता है और उड़खड़ाकर गिरता जाता है। वह उस नवजात अंकुरकी भाँति था जो अधकार-मय गढ़में उत्पन्न होकर दिग्भ्रान्त-सा शून्यमें अपने पत्ते फैला कर बढ़ना चाहता है। उस तक

प्रकाशकी क्षीणतम किरण भी नहीं पहुँच पाती। प्राणोंको विकसित करनेवाली वायु उसे स्पर्श नहीं कर पाती।

आर्योंके धर्मशास्त्र मनकी आकांक्षाओंपर शासन नहीं कर सकते थे। लगन सूची थी; और, कुछ ही वर्षोंमें एकलव्य धनुर्विद्यामें निपुण हो गया। तब एक दिन आचार्य द्रोण राजपुत्रोंको लेकर मृगयाको निकले। आर्योंके शिकारी कुत्तेने जंगलमें एक अनार्यको देखकर भूँकना आरम्भ किया। एकलव्यके अभ्यासमें बाधा पड़ने लगी। उसने कुछ अफ़लक तीरोंसे कुत्तेका मुँह बन्द कर दिया। बेचारा पशु तूणीरकी भाँति अपना तीरोंसे भरा मुँह लिए आचार्यके सम्मुख आ पहुँचा। बाण चढ़ानेका यह कौशल देखकर सभी राजकुमार विस्मित हो गए।

देखा, भिड़ीकी एक मूर्तिके सम्मुख धनुःसंधान किए हुए भिल्लराज हिरण्यधनुका पुत्र एकलव्य खड़ा है। आचार्यने विस्मयसे कहा—“युवक, तुम वही हो न, जो एक दिन मेरे पास विद्या प्राप्त करने आए थे? देखता हूँ, धनुर्विद्यामें पारंगत हो गए हो! भला, गुरु कौन है तुम्हारा?”

फिर अकस्मात् आचार्यकी दृष्टि अपनी मृण्मयी प्रतिमापर जाकर ठहर गई। वह चकित होकर बोले—“यह तो मेरी मूर्ति है! इसका यहाँ क्या उपयोग होता है?”

एकलव्य बोला—“आचार्य, वही तो माध्यम है जिसके द्वारा मैंने प्रकृतिसे यह विद्या प्राप्त कर ली।”

आचार्य क्षण-भर सोचते रहे। आसपास खड़े सब राजपुत्र अधीर होकर उनका मुँह जोह रहे थे। अन्तमें आचार्यने गम्भीर होकर कहा—“इसका क्या अर्थ है; जानते हो, अनार्य? तुमने हठात् मुझे ही अपना गुरु बना लिया है!”

“हाँ, गुरुदेव । ”

“किन्तु द्रोणका शिष्य बननेके लिए केवल हस्त-लाघवकी ही आवश्यकता नहीं होती । मेरे शिष्यको प्रकृत वीर भी होना आवश्यक है । ”

एकलव्यने उत्तर दिया—“तो आचार्य, आज्ञा दीजिए । आपके योग्यतम किसी शिष्यसे मेरा युद्ध हो जाय । यदि मैं जीत जाऊँ तो परीक्षामें सफल कहाऊँगा, अन्यथा धनुष-बाण धारण करना छोड़ दूँगा । ”

“नहीं—नहीं । किसीसे लड़कर जीतना या हारना मैं वीरता नहीं समझता । वीर वह है जो त्याग कर सकता है । ”

एकलव्यकी समझमें नहीं आया । वह चुप रहा ।

“तुम मेरे शिष्य हों ? मेरे शिष्य कहलाना चाहते हो ? ”

“हाँ, आचार्य । ”

“मैं विश्वास नहीं करता, एकलव्य । मुझे पश्चात्ताप हो रहा है कि तुम जैसे योग्य पात्रको मैंने उस दिन शिष्य बनानेसे अस्वीकार कर दिया । ”

“पश्चात्ताप ? ” एकलव्य अकस्मात् उल्लसित हो उठा । “आर्य, क्या आप यह अनुभव करते हैं कि मनुष्य-मात्र सभी प्रकारके ज्ञानको प्राप्त करनेका अधिकारी है ? क्या आप यह मानते हैं किसी वर्ग अथवा जाति-विशेषको ही वह एकाधिकार प्राप्त नहीं है ? ”

“हाँ.... ”

“तो आज्ञा दीजिए, गुरुदेव । मैं पालन करूँगा । ”

आचार्य उसकी ओर ठक-ठकी लगार देखते रहे । बोले—“बहुत बड़ा त्याग है, एकलव्य । तुम कदाचित् नहीं कर सकोगे । ”

एकलव्य अधीर होकर बोला—“ नहीं आचार्य, मैं अवश्य कर सकूँगा। आप परीक्षा ले लीजिए। ”

“ अपने दाहिने हाथका अँगूठा काटकर मुझे गुरुदक्षिणा दे दो। ”

×

×

×

आचार्यने जिस समय अपनी गुरुदक्षिणा माँगी उस समय कदाचित् समय और इतिहासकी गति अकस्मात् रुक गई हो—जैसे कोई द्रुत-गामिनी नदी मार्गमें किसी पर्वतको पाकर क्षणभर ठिठककर रुक जाती है और दूसरे ही क्षण पर्वतकी दाहिनी अथवा बायीं ओरसे होकर निकल भागती है। मनुष्योंका इतिहास केवल बुद्धिमानों, वीरों और बहुश्रुत व्यक्तियोंकी ही कहानी नहीं है; प्रत्युत मूर्खों, अविवेकी व्यक्तियोंकी भी आख्यायिका है। एकलव्य उस दिन इतिहासके ऐसे ही सन्निस्थलपर खड़ा हुआ था। यदि वह अँगूठा काटकर न दे देता, आर्योंके पुराण-ग्रन्थ उसकी निन्दासे भर गए होते। कदाचित् द्रोणके सवा सौ शिष्य उसी समय उसकी बोटी-बोटी काट देते। किन्तु सैकड़ों-हजारों वर्षके उपरान्त मनुष्योंका समाज उसे मूर्ख कहकर न पुकारता।

एकलव्यने संस्कार और भावनाओंसे प्रेरित होकर यथार्थकी ओरसे आँखें मूँद लीं। जिस लक्ष्यको सम्मुख रखकर वह देश छोड़कर हस्तिनापुर आया, अपमानित हुआ और वर्षों तक असहाय अवस्थामें बिना मार्गदर्शकके साधना करता रहा, आवेशके एक ही क्षणमें वह उसे भूल गया। वह भूल गया अपने देशको जिसकी स्वतंत्रता-लक्ष्मी-पर आर्योंकी गृध्रदृष्टि लगी हुई थी। वह भूल गया अपने माता, पिता, भाई, बन्धु-बान्धवोंको जो उस समय धड़कते हृदयोंको लेकर उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, जिनकी रक्षाकी आकांक्षासे प्रेरित होकर वह घरसे

चला था । वह भूल गया उस बातको कि, यद्यपि गुरुभक्तिकी प्रशंसासे मनुष्योंका नाहिल्य भरा पड़ा है, किन्तु मूर्खकों यथार्थ मूर्ख कहनेवाले भी कुछ लोग होते हैं । वह भूल गया उस बातको कि अँगूठा कटनेकी जिस परम्पराको उसने प्रारम्भ किया था, सुदूर भविष्यमें उससे हजारों-लाखोंके अँगूठे कटेगे.—

नमस्कृत चक्र चलता ही गया । कई सौ शताब्दियाँ बीत गई । कौरव मर गए । विजयी पाण्डव भी मर गए । एकलव्य भी चला गया । कलके विजयी आर्य फिर तीसरी जातिद्वारा पददलित हुए । उन्होंने गौरवके स्वर्ण-शिखरसे उतर कर देखा कि अब वे भी उन्हीं लोगोंके साथ खड़े हैं जिनका प्रतिनिधि एक दिन अपने आपको एकलव्य कहकर उन्हें अपना गुरु बनाने आया था ।

---

## पतनके मार्गपर

इस हिमालयको आज क्या हो गया है ? इसकी चोटियाँ चाँदीके समान क्यों नहीं चमकती ? यह विराट् पाषाण-लोक यहाँ आकर कैसे खड़ा हो गया ? वे सब नदियाँ क्या हो गई ? झरनोंका निरन्तर कल-कल आज क्यों शान्त है ? ये वृक्ष सब सूख गए । इनकी हरी-हरी पत्तियाँ जलकर सब भस्म हो गई । ये सैकड़ों दरिद्र ठूँट हाहाकार क्यों कर रहे हैं ? पृथिवीके हृदयमें आज दावानल क्यों भड़क उठा है ? दिशाएँ जल रही हैं । आकाशकी अनन्त नीलिमा ज्वालाओंमें लिपट गई है । यह सब क्यों हो रहा है ? यह किसका शाप है ? और मुझे क्या हो गया ? मैं इतना दुर्बल क्यों हो गया हूँ ? खड़े होनेपर मेरे पैर क्यों काँप रहे हैं ? आँखें जल रही हैं । मस्तक जल रहा है । मेरा शरीर सूख गया । कदाचित् रक्तकी अब एक भी बूँद नहीं बची है । मेरी शक्ति इतनी क्षीण हो चुकी ! मैं डूब रहा हूँ । मेरा मस्तिष्क डूब रहा है ।

“ विस्वामित्र ! ”

यह किसने पुकारा ? यह तो मेरा नाम है । मैं अपना नाम भूल गया था । सचमुच,—कौन हूँ मैं ? यहाँ क्या कर रहा हूँ ? यह सब क्या हो गया ? इस हिमालयको क्या हो गया आज ? इतनी बड़ी-बड़ी पाषाण-शिलाएँ आज कहाँसे उत्पन्न हो गई ? इनसे पृथिवी पिंसी जा रही है । मेरे मनपर इनका बोझ बढ़ता जा रहा है । इतना हिम

गल कर वह गया ? सब ?—सब बहकर समुद्रमें पहुँच गया ? ओह !—सागरमें एक उफान आ गया होगा ! मर्यादा टूट-फूट गई होगी । तरंगोंने बढ़-बढ़ कर धरतीको निगल लिया होगा ।

“ विश्वामित्र ! ”

फिर किसीने पुकारा ? कौन हो तुम ? सामने आओ न ! संसार तो जल चुका । इतना बड़ा हिमालय जल चुका है । ये शिलाएँ—काली-काली, भयावह—उसके भस्मावशेष हैं । और तुम कौन हो ? तुम क्यों नहीं जले ? मैं क्यों नहीं जला ? जल तो रहा हूँ । कुछ समयके उपरान्त मैं भी भस्म हो जाऊँगा । मैं खड़ा नहीं हो सकता । मेरा स्नायु-जाल जमकर पत्थर बन गया है । मेरा रक्त सूख गया है । यह सब क्यों हुआ ? मैं यहाँ आया कैसे ? तुम यहाँ कैसे आ गए ? कौन हो, कहाँ हो तुम ? मेरी ही भाँति तुम भी कदाचित् जल रहे हो । तुम्हारी भी नाड़ियाँ पत्थर बन गई हैं । हम दोनों प्रस्तरप्रतिमा बन जाएँगे । इन विशाल पाषाणोंकी भाँति हम भी धरतीको दबोच लेंगे ।

“ विश्वामित्र ! राजर्षि ! ”

ओह ! रा—ज—र्षि ? राजर्षि विश्वामित्र ? मैं राजा हूँ ? हूँ ?—नहीं—था । स्मरण आ रहा है । एक लम्बी काल-रात्रिके उपरान्त धीरे-धीरे क्षितिजसे उठनेवाले आलोककी भाँति स्मृति चली आ रही है । उसके रेशमी इन्द्र-धनुषी पंख वेगसे हिल रहे हैं—कोई शब्द नहीं—गति है; केवल गति । वह ज्योति सारे आकाशमें व्याप्त हुई जा रही है । मैं राजा था । महाराज विश्वामित्र ! मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ ? मेरा साम्राज्य कहाँ है ? मेरी प्रजा कहाँ है ? ये पाषाण ? ये वृक्ष ? ये तो सूख गए हैं । किसने जल दिया मेरी प्रजाको ? किसने नष्ट कर दिया मेरे साम्राज्यको ? और, तुम कौन हो, जो रहस्यके अन्धकारमेंसे

मुझे पुकार रहे हो ? तुमने नहीं देखा मेरे साम्राज्यको नष्ट होते ? मेरी प्रजाको भस्म होते तुमने नहीं देखा ? और देखकर भी मुझे नहीं जताया ?

“ राजर्षि, तुम अपनी सम्पूर्ण संज्ञाओंमें नहीं हो। तुम अपना देश, अपनी प्रजा, विशाल साम्राज्य, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्रादिकोंको छोड़कर यहाँ आ बैठे हो। पूरे दो हजार वर्षोंसे तुम तपस्या कर रहे हो। ”

दो हजार वर्ष ? ओह ! कालका कितना विस्तार है ? इतने समयमें मैं तपस्या कर रहा हूँ। अपना देश, अपनी प्रजा मैं छोड़ चुका हूँ। मेरे बन्धु-बान्धव, मेरे स्त्री-पुत्र इन दो हजार वर्षोंसे मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। इतने वर्षोंमें जब हिमालय गल गया, धरती जल-कर भस्म हो गई, तो वे लोग क्या बचे रहे होंगे ? दो हजार वर्ष !—और मैं उन्हें छोड़कर चला आया तपस्या करनेके लिए ! मुझे अपने साम्राज्यसे, अमित वैभव और आपार सत्तासे सन्तोष नहीं हुआ। मुझे किसी अभाव-रूपी सर्पने डँस लिया होगा। धरतीपर कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिसे मैं प्राप्त न कर सकता। स्वर्गके राजा भी मुझसे डरते थे। किसी भी समय चाहता तो उनका सिंहासन छीन लेता। किन्तु फिर भी दरिद्र था। मुझमें कोई कमी थी। नहीं तो मैं क्या पानेके लिए तपस्या करने लगा ? ओह, मेरी स्मृति कहाँ चली गई ? मैं स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? तुम कौन हो ? तुम्हें मेरा इतिहास ज्ञात है। मेरे सामने आओ न ? मैं तुम्हें देख लूँ। मनुष्यको इन दो हजार वर्षोंमें मैंने नहीं देखा। यह पाषाण-शेष हिमालय मेरा साक्षी है। तुम सामने तो आओ। आओ, नहीं तो मैं शाप दे दूँगा।

तुम हँसते हो ? तुम्हारी हँसी इतनी सूक्ष्म, तुम्हारा कण्ठस्वर इतना मधुर क्यों है ? सारी सृष्टि जल गई किन्तु तुम्हारा स्वर नहीं

जल सका ? तुम भी इन दो हजार वर्षोंसे जिए चले जा रहे हो । तुम भी तपस्या कर रहे हो । तुम्हें भी कुछ अभाव है । क्या है, बताओ ? हम-तुम दोनों मिलकर एक-दूसरेकी अभाव-चर्चा करें । तुम मुझे बताओ कि मैं क्यों तपस्या कर रहा हूँ । मुझे केवल स्मरण-भर करा दो । फिर देखो मैं अपने दुष्प्राप्यको क्षण-भरमें पा लेता हूँ । दुर्बल हूँ तो क्या हुआ ? अभी जीवित तो हूँ । मैं सब-कुछ कर सकता हूँ । किसी समय मेरे नामसे पृथिवीकी समस्त शक्तियाँ काँप उठती होंगी । मेरे प्रयाणके समय एक भूकम्प उठ खड़ा होता होगा । बड़े-बड़े राजाओंकी राज्य-लक्ष्मी चंचल हो उठती होगी । मनुष्य मेरी इच्छाओंका संकेत-भर जानना चाहते होंगे । मेरे प्रतापके चरणों-पर तृप्तिका नैवेद्य चढ़ता होगा । तब कौन-सी वस्तु उत्पन्न हुई, जो मेरे लिए अप्राप्य थी ? वह कौन-सी उच्चता थी, जिसके शिखरको मेरा तेजःसूर्य नहीं लौघ सका ? वह कौन-सा व्यक्ति था जो मेरी महत्त्वा-कांक्षाओंकी तीव्र धाराओंमें बह न सका—चट्टानकी भाँति कौन आकाशसे सिर लगाए खड़ा रहा—मैं क्रोधसे काँप उठा तो कौन था जो हँस दिया—प्रहार किया तो किस ऊँचाई तक पहुँचते-पहुँचते लक्ष्यके पंख कट गए—किसपर मेरी समग्र शक्ति, सम्पूर्ण प्रताप टकरा कर चूर-चूर हो गए ? कौन था वह ? और, तुम कौन हो, जो इस जले हुए संसारपर मेरी स्मृतिका कल्पवृक्ष उगाना चाहते हो ? स्मशानमें मरी हुई आशाओंपर बैठकर शव-साधना करना चाहते हो ? बोलो, तुम चुप क्यों हो ?

“ विश्वामित्र, इस चराचर सृष्टिमें जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब नश्वर हैं—सब सान्त हैं । अनन्त है केवल ईश्वर । तुम्हारी शक्ति और महत्त्वाकांक्षाएँ सब नपी-तुली थीं । कालने उपन्न होते ही उनकी स्पष्ट

सीमाएँ काट दी थीं। जिस प्रकार पक्षी प्रातःकाल उड़कर आकाशकी नीली असीमानों में जाकर खो जाता है, किन्तु सायंकाल अपने सीमित नीड़में आकर सो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारी इच्छाएँ प्रताप-सूर्यके अस्त होते ही तुम्हारे व्याकुल हृदयमें जाकर लीन हो गईं। एक वस्तु थी जिसे तुम पराजित न कर सके। केवल एक वस्तु—एक भावना—

ओह!—वह क्या थी, जिसे मैं न पा सका?—जिसने मेरी शक्तियोंको कुण्ठित कर दिया; जिसपर मेरा समस्त दर्प, असंख्य परमाणुओंमें फूट कर चूर-चूर हो गया? ओह, अपमानका कैसा भीषण आघात लगा होगा मेरे हृदयको? एक ही क्षणमें मेरी महान् अहन्ताके पंख कट गए होंगे, और वह उस ऊँचाईसे उपहासकी निर्मम शिलापर गिरकर नष्ट हो गई होगी। एक प्रलयंकरी प्रतिहिंसा धधक उठी होगी। उसकी ज्वालाओंने संसारको घेर लिया होगा। तभी तो हिमालय गल गया है। नदियाँ सूख गई हैं। धरती भस्म हो चुकी है।

“हाँ, विश्वामित्र। तब तुम मचल गए। तुमने कहा मैं उस वस्तुको प्राप्त करूँगा—चाहे जो हो। तुम्हारी सैन्य-शक्ति चोट खाई हुई सर्पिणीके समान फुफकार उठी। किन्तु दूसरे ही क्षण कुचल दी गई। तब तुम्हें ज्ञान हुआ कि सम्राट् होने पर भी तुम साधारण मनुष्य हो। तुम्हें अपने देश, अपने साम्राज्यसे वितृष्णा उत्पन्न हो गई। तुमने काषाय धारण किया और हिमालयकी इस उपत्यकामें तपस्या करने चले आए। तुम्हारी तपस्यामें निःस्वार्थता नहीं थी। उसका ठीक वही रूप था जो दिग्विजयकी तुम्हारी महत्त्वाकांक्षाओंमें दिखाई देता था। केवल साधन अलग-अलग थे। वह पराजयकी प्रतिक्रिया थी। तुम्हें जन्मसे ही विजयका परिचय मिला था। पराजयका कटु स्वाद तुमने कभी नहीं चखा। जिधर तुम्हारी दृष्टि जाती थी, उधरकी दिशाएँ प्रचण्ड वायुके

झोंकेमें वेतसल्लाओंकी भँति नम जाती थीं । तब पहली ही बार एक व्यक्तिने तुम्हारी विजय-भावनाको अनायास नष्ट कर दिया.....”

केवल एक व्यक्तिने ? वह मनुष्य नहीं होगा । देवता, दानव नहीं होगा । क्योंकि इन सबको विश्वामित्रकी अप्रतिहत इच्छाओंका परिचय दिया जा चुका था ।

“ वह मनुष्य था । वह इसी पृथिवीपर निवास करता था जिसके एकच्छत्र स्वामी तुम कहलाते थे । वह उस वर्गका मनुष्य था जिसपर राजा-ओंका शासन नहीं चलता । बल्कि यही वर्ग राजाओंका निर्माण और विनाश करता है । वही मानव-समाजके लिए आचार-विधान और शासनके लिए दण्डनीतिका सृजन करता है । वह वर्ग मनुष्यों और देवताओंके बीचका व्यवधान है । देवताओंका प्रसाद और उनका कोप उसी वर्गके द्वारा मनुष्यों तक पहुँचते हैं । उसीके द्वारा मानवोंकी बलि और पूजा अदृश्य-स्वर्गके स्वामी तक पहुँचाई जाती हैं । तुम मोह-पाशमें बँध गए और तुमने उस वर्गकी सर्वग्रासी सत्ताको नहीं पहिचाना । तुम्हारा संघर्ष हुआ और तुम पराजित हुए । वह वर्ग था ब्राह्मण...। ”

ब्राह्मण !....वही तो । वही तो ! यह शब्द मुझे अत्यन्त परिचित-सा लगता है । सुनकर प्रतीत होता है मानो कोई पुराना घाव दुखने लगा । मुझे उस बालक-सा क्षोभ होता है, जो दूसरेके हाथमें सुन्दर-सा खिलौना देखकर चाहता है कि उसे प्राप्त करे । किन्तु उसके सामर्थ्यके बाहरका विषय है वह । उसका मन मसोसकर रह जाता है ।....ब्राह्मण...ब्राह्मणने मुझे पराजित किया ? किस ब्राह्मणने ? तुम कौन हो ? बताओ न ? ओह, मैं उठ नहीं सकता । मैं घूम नहीं सकता । नहीं तो....नहीं तो....

...फिर तुम हँसे ? यह हँसी कैसी है ? यह किस पुरुषकी हँसी है....स्मरण नहीं होता....

“ मैं पुरुष नहीं हूँ, विश्वामित्र !—मैं स्त्री हूँ । ”

स्त्री ! दो हजार वर्षोंके उपरान्त आज फिर—? ”

“ विश्वामित्र, जब एक ब्राह्मणने तुम्हारा अपमान किया और जगत्-विजयिनी तुम्हारी सत्ताको एक ही क्षणमें धूलमें मिला दिया, तो तुमने कहा—”

तो—तुम पुरुष नहीं हो ? स्त्री—स्त्री हो ?

“—तब तुमने कहा—मैं भी ब्राह्मण बनूँगा । ठीक इसी प्रकार तुम वचपनमें भी मचल उठते होगे—मैं भी राजा बनूँगा । तुम्हारे माता-पिता अभिभावक-वर्ग तुम्हारा असम्भव हठ देखकर हँस उठते होंगे । ब्राह्मण बननेका तुम्हारा संकल्प देखकर लोग हँसने लगे । सबसे अधिक हँसा वह ब्राह्मण जिसने तुम्हें नीचा दिखाया था । तुम्हें स्मरण है ? क्या नाम था उसका ? ”

क्या कहा तुमने—तुम—तुम स्त्री हो ? सच कहती हो ?

“ उस ब्राह्मणका नाम था—वसिष्ठ । बड़ा शक्तिशाली । अनेकों दिग्विजयी राजाओंको उसने अपना शिष्य बना लिया था । रघुके कुलका वह पुरोहित माना गया है । बड़े-बड़े राष्ट्योंकी राजनीति उसकी अंगुलीसे संचालित होती है । अपने आपको वह प्रजापतिका पुत्र कहता है । उससे संवर्ष मोल लिया तुमने ! जब हार गए तो कहने लगे—मैं भी ब्राह्मण बनूँगा ! ”

तुम रहस्यके पीछे छिपकर क्यों बोल रही हो ? तुम स्त्री हो—सामने आओ । मैं देखूँगा—दो हजार वर्ष—

“ वह सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा थी । मदिरासे भी अधिक तेज तुम सब-कुछ भूल गए । आसुमुद्र-विस्तीर्ण अपना साम्राज्य; कुंवरको

ललचानेवाली समृद्धि; छाया-सी मूक और सतत अनुगामिनी भार्या; मौलश्रीके कुसुमों-से सुकुमार बालक—सबको तुम भूल गए। तुम्हें कुछ नहीं चाहिए था। सदासे विजयके पार्श्वचर रहे हो। उसे ही तुम प्राप्त करना चाहते थे। ब्राह्मण बननेके लिए तुमने रोती हुई पत्नी, बिलखते हुए बालकोंको निराधार छोड़ दिया—एक बार भी तुमने इन दो हजार वर्षोंमें पीछे फिर कर नहीं देखा—स्नेहका वह महासमुद्र सूख चुका है—वह अब मरुभूमि है—रेत उड़ रही है—झंझा चल रही है—दो हजार वर्षके इस व्यवधानके उपरान्त—

“—तो, तुम तपस्या करने लगे। एक निराधार, काव्यनिक सत्यको प्राप्त करनेके लिए। तुम सनातन प्रकृतिको बदल देना चाहते थे। सत्यके विरुद्ध तुमने भीषण संघर्ष प्रारम्भ किया। सत्य था तुम्हारा संसार—माया, ममता, स्नेह, करुणा, दया, सहानुभूतिसे भरी तुम्हारी सृष्टि। सत्य था तुम्हारा साम्राज्य, और उत्तरोत्तर विकासपर विजय पानेकी आदिम मानव-भावना। सत्य थे तुम्हारे स्त्री-पुत्रादि!—स्नेह और अमरताकी वे परस्पर विच्छुरित धाराएँ। सत्य थे तुम, और व्यक्तिकी अहन्ता। यह ब्राह्मणत्व कल्पना-कुसुमोंके समान असत्य था। वह कोई वस्तु थी ही नहीं। सत्य तो मनुष्यता। उससे बड़ा कोई नहीं। फिर वशिष्ठ और विश्वामित्र नामके दो व्यक्तित्व अलगासे किस प्रकार सत्य हो सकते हैं? ब्राह्मण और क्षत्रिय तो दोनों असत्य उपाधियाँ हैं। इन्हींमें-से एकका त्याग करने और दूसरेको प्राप्त करनेके लिए तुमने उग्र तपस्या प्रारम्भ कर दी।”

तुम अपने आपको स्त्री कहती हो! कैसे मान लें? देखो न, वह हिमालय समूचा गल कर बह गया है। नदियाँ सब सूख कर निर्मम बन गई हैं। ये अभगे ठूँठ और बचे हैं। धरतीकी छातीपर इतने असंख्य

शूल चुभ रहे हैं और ऐसे प्रकृति-विपर्ययके समय कहती हो कि तुम नारी हो। स्त्रीका रूप और उसके चारों ओरका वातावरण ऐसा शुष्क-निर्मम कैसे हो गया। तुम तो अपने साथ सौन्दर्यका एक संसार लिये चला करती हो। रूप और ज्योतिके प्राण तुम्हारे अंचलमें बँधे हैं। बसन्त और मलयानिल तुम्हारे स्वास-प्रश्वास हैं। तुम यहाँ कैसे? मैं नहीं मानता। मैं जब तक देख न लूँ, विश्वास नहीं कर सकता। तुम छल करती हो। मायाविनी हो।

“तुमने असत्यकी प्राप्तिके लिए तपस्या प्रारम्भ कर दी और प्रकृतिमें विप्लव उमड़ने लगा। हिमालय बूँद-बूँद गल कर निःशेष हो गया; और रह गए नग्न पाषाण। नदियाँ सूख गईं और तुम्हारा विशाल साम्राज्य मरुस्थल बन गया। तुम्हारी प्रजा जलके बिना, अन्नके बिना तिल-तिल करके नष्ट होने लगी। तुम्हारे बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्रादि तुम्हारी स्मृतिको छातीसे लगाए-लगाए चल बसे। यह कार्य ठीक तुम्हारी विजय-यात्राओं-सा क्रूर था। पहले तुम्हारी सेनाएँ जिस दिशामें जाती थीं, उधर विनाशकी सृष्टि होती थी। खेतोंमें पका हुआ धान्य जला दिया जाता था। गाँव-के-गाँव खंडहरोंमें परिवर्तित कर दिए जाते थे। असंख्यों मनुष्य दुर्भिक्षसे और तुम्हारे सैनिकोंके शस्त्रोंसे प्राण गँवा बैठते थे। इस तपस्या और उन विजय-यात्राओंमें केवल आन्तर और बाह्यका अन्तर था। दोनोंका जन्म व्यक्तिके असन्तोष और अतृप्तिसे हुआ है। एक मनुष्यकी आवश्यकताएँ इतनी नहीं होतीं। समुद्रसे समुद्र तक फैली हुई पृथिवी उसे नहीं चाहिए। जितनी धरतीपर वह खड़ा हो सकता है, उतने ही स्थानकी उसे आवश्यकता है; अधिक नहीं। जितना अन्न उसके उदरमें और दोनों मुट्टियोंमें समा सकता है, उससे अधिक उसके लिए मिट्टीके समान व्यर्थ है। उसके अतिरिक्त जब

मनुष्यकी आकांक्षाएँ सीमाके बाहर बढ़ती हैं, तब प्रकृतिमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। शान्त, अहिंसक मनुष्यप्राणी हिंस्र, वन्य पशुओंका-सा व्यवहार करने लगता है।”

तुम कौन हो ? आओ मेरे समक्ष, आओ। मैं जड़ हो गया हूँ। मेरी नाड़ियाँ पत्थर बन गई हैं। मैं अब इन निर्जीव पाषाणोंकी भाँति यहीं गड़ जाऊँगा। तुम आओ न ? मैं देखूँगा। दो हजार वर्षोंसे मैंने स्त्रीकी मूर्ति नहीं देखी है। हो सकता है कि अब भी वसन्त आ जाय। इन ठूँठोंपर अब भी लाल-लाल कोपलोंकी दीप्ति-शिखाएँ जल उठें। ये झरनें फिरसे कल-कल मुखरित हो उठें। हिमालयकी उन चोटियोंपर फिरसे चाँदीकी हँसी बिखरने लगे।—ओह ! मैं भी एक ठूँठ बन गया हूँ। मेरे संसारमें रसकी धाराएँ सब सूख चुकी हैं। मेरा साम्राज्य उजड़ चुका। मेरी प्रजा नष्ट हो गई। मेरे स्त्री-पुत्र मर गए। सब मर गए ! दो हजार वर्षोंके विस्तृत व्यवधानपर लंबा लेटा हुआ काल उन्हें निगल गया। सबको निगल गया !—एक ही झपट्टेमें ? एक ही झपट्टेमें निर्ममताके झेनने मेरा नीड़ बिखरा दिया ? मेरी सुन्दर पक्षिणी और उसके अवोध शिशु सब-के-सब खा लिये उसने ! और मैं मृगतृष्णाकी काल्पनिक प्रतिमाके पीछे भागता फिरा ? अब तुम आई हो ! इस भीषण एकान्तमें ! मृत्युकी इस रंगशालामें तुम जीवनकी रागिणी गाना चाहती हो ! कहती हो कि तुम नारी हो। मेरे समक्ष आओ कि कदाचित् तुम्हें देख कर मेरी जलती आँखोंमें अमृतका सिंचन होने लगे। आओ ! नहीं तो मैं चीख-पुकार मचाने लगूँगा। मैं शाप दे दूँगा। बचा-खुचा हिमालय भी टूट-फूट जायगा। ये पाषाण-शिलाएँ चटख कर चूर-चूर हो जायँगी। ये ठूँठ जलकर भस्म बन जायँगे।—आओ ! मेरे नेत्रोंके सम्मुख आओ !—

“मैं आ गई, विश्वामित्र । लो, देखो मुझे । ओह, तुम कितने दुर्बल हो गए हो ! सुमेरुके समान कान्तिवान् तुम्हारा शरीर कोयले-सा काला पड़ गया है । वट-वृक्षकी गाँठों-सी कठोर-मांसल तुम्हारी पेशियाँ ढीली पड़कर झूलने लगी हैं । दुर्गद्वार-सा दृढ़-प्रशस्त तुम्हारा वक्षः-स्थल पतझरके पीले पत्तेकी भाँति सिकुड़ गया है । ग्रीष्मके प्रचण्ड सूर्य-से चमकते तुम्हारे नेत्रोंपर बादल छा गए हैं । तुम्हारा पुरुष महानदीके तटपर खड़े दुर्बल तृणके समान रह-रह कर काँप उठता है । यह दीपक भी कदाचित् बुझ जायगा । इसमें स्नेहकी एक भी बूँद नहीं बची । दो हजार वर्षोंसे निःस्नेह जलती हुई प्राणोंकी इस बर्तिका-पर काजल चढ़ने लगा है—”

तुम आ गई ! यहाँ मेरे सामने, ठीक मेरे सामने, खड़ी होओ । ओह कितनी सुन्दर हो—कितनी नूतन !—जैसे बादलोंके हट जानेपर शरत्की चन्द्रिका—आषाढ़के प्रथम स्नानके उपरान्त हरा परिधान ओढ़े वसुन्धरा । दुधमुँहे बालकके अधरोंपर निश्छल हास्य-रेखा । सृष्टिका पहिला प्रभात । प्राणोंका पहिला स्पन्दन । जीवनकी पहिली गति । इच्छाओंकी पहिली पुकार ।—तुम कौन हो ? यहाँ मेरे पास बैठो । इस तपती हुई शिलापर शीतल स्पर्शकी चादर बिछा दो । इस जली सृष्टिपर जीवनकी हरीतिमा फैला दो । अभागे हिमालयकी चोटियोंपर अपना शुभ्र हास विकिरित होने दो । इन ठूँठोंको अपने कर-पल्लवोंसे छू दो कि ये लहरा उठें । इन सूखी नदियोंसे कुछ कह दो कि करुणासे इनके दोनों तट आलस्यवित हो उठें—तुम कौन हो, पहिले यह बताओ ।

“मैं स्त्री हूँ, विश्वामित्र । सम्पूर्ण स्त्री हूँ—देखते नहीं ? ”

हाँ, देखता हूँ । देखता हूँ कि जैसे इन दो हजार वर्षोंसे मैं तुम्हारा ही मार्ग देख रहा था । जैसे तुम्हारी सतत प्रतीक्षा ही मेरे जीवनका

मंत्र थी। तुम नहीं आईं इसीसे प्रकृति रूठ गई है। इसीसे भीषण अर्धूर्णताने संसारको ग्रस्त लिया है। किन्तु, तुम कौन हो ? मानुषी हो तुम ?

“ नहीं, विश्वामित्र । ”

तो दानव-कुमारी हो तुम ?

“ नहीं । ”

तो तुम देवी हो। वन-देवता हो। पुरुषके दुराग्रहमे विनष्ट अपने साम्राज्यको देखने आई हो। क्यों ?

“ नहीं । ”

नहीं ?—तो तुम कौन हो ? तुम तो मूर्तिमान् कौतूहल हो— जिज्ञासाकी जीती जागती प्रतिमा ! तुम कौन हो ?

“ मैं वेश्या हूँ, विश्वामित्र । मैं स्वर्गकी वेश्या हूँ । ”

स्वर्गकी वेश्या ?—अप्सरा ? देवताओंके विलासकी चिर-यौवन पुतली ? तुम्हारा क्या नाम है ?—रम्भा ?—उर्वशी ?—

“ मेनका— ”

मेनका ? तुम्हें इन्द्रने भेजा है ? मेरी तपस्या भंग करनेके लिए ? यह छलना—यह विडम्बना ! देवताओंका वह राजा मेरे साथ पर्याप्त आँखमिचौनी खेल चुका है। पृथिवीपर मेरे संसारको उसीने नष्ट किया ! मैंने दूसरे ब्रह्माण्डकी रचना की तो उसने उसकी ईंट-ईंट तोड़ डाली ! अब तुम्हें भेजा है ? चली जाओ, इसी क्षण चली जाओ। मैं तो ब्राह्मण बनूँगा। वशिष्ठके उस दर्पको चूर-चूर करना है मुझे। उसपर विजय पानी है मुझे। प्रतिशोध लेना है—अपमानका प्रतिशोध। जाओ ! चली जाओ !

“विश्वामित्र, तुम कितने क्षीण हो गए हो ? तुम इतने दुर्बल हो गए हो कि एक स्त्रीसे डरते हो ! तुम जीवनके राजमार्गसे भटककर इतनी दूर पहुँच गए हो कि नारीकी छायासे चौंक उठते हो ? इन्द्रने मुझे अवश्य भेजा है। उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—‘ देखो मेनका, तुम्हें एक महान् कार्य करना है। विधाताकी इस सृष्टिको एक दुराग्रहीकी मूर्खताद्वारा नष्ट होनेसे बचाना है। विश्वामित्र पथभ्रष्ट हो चुका है। पतनके गढ़ेसे उसे निकालकर सत्यकी ठोस धरतीपर खड़ा कर दो। वह पुरुष है। मैं स्वयं जाकर उसे नहीं समझा सकता। पुरुष एक ज्वाला है, उसे दूसरी ज्वालाके सम्पर्कमें आनेसे अग्निप्रलय उपस्थित हो जायगा। तुम स्त्री हो। तुम आया शक्ति हो। पुरुष हठी बाल्क-सा रुठ गया है। उसे मनाओ, पुचकारो।’

“ तो, मैं बड़ी प्रसन्नतासे चली आई, विश्वामित्र। मैं लौटकर जानेके लिए नहीं आई हूँ। मैं तुमसे पराजित नहीं हो सकती। मैं नारी हूँ। पुरुषकी मर्यादा हूँ, जो उसे भटकने नहीं देती। तुमने अपने आसपास मृत्युका सृजन किया है। मैं यहाँ जीवनका सन्देश फूँकने आई हूँ। तुम्हारी तपस्या असत्यके बलपर चल रही है। इससे संसारका अमंगल होगा। मैं नूतन प्राणोंका स्पन्दन भर दूँगी तुममें, और तुम्हारे संसारमें। तुम मुझे पराजित नहीं कर सकते। तुम मृत्युके उपासक हो और मैं जीवनकी पुजारिन हूँ। मृत्यु असत्य स्वप्न है और जीवन सत्य यथार्थ। मृत्यु जीवनपर विजय नहीं प्राप्त कर सकती। तुम्हें असन्तोष है अपने काल्पनिक अभावोंसे। पुरुषको अधिक कुछ नहीं चाहिए। दो रोटी भोजन, दो घूँट पानी, और—”

और ? और कहो न ? क्या चाहिए पुरुषको ?

“ दो रोटी भोजन, दो घूँट पानी, दो पग एकान्त धरती और स्त्री !”

“ स्त्री ? ”

“ हाँ, विश्वामित्र । पुरुषकी यह अन्तिम आवश्यकता उसकी मर्यादा है । पुरुषका यथार्थ संसार स्त्री है । वह अनन्त है । उस संसारके ओर-छोर नहीं दीखते । स्नेहकी निःशेष ममता वहीं है; करुणाका समूचा महासमुद्र वहीं लहरा रहा है; किल्कारियाँ भरते हुए वात्सल्यकी वही जननी है; पुरुषकी सारी संस्कृति, सम्यता, दर्शन और विज्ञानका वही एकमात्र आश्रय-स्थल है । तुम्हारी जर्जर अस्थियोंमें उसी शक्तिका संचार करने मैं आई हूँ, क्षत्रिय । तुम मुझसे भागना चाहते हो ? बताओ, मुझसे दूर भागना चाहते हो ? देखो, मेरी आँखोंमें देखो । विश्वामित्र, तुम कितने दुर्बल हो गए हो, कितनी दयनीय अवस्था तुम्हारी हो गई है ? ”

“ ओह ! ”

“ विश्वामित्र, मैं तुम्हें छोड़कर लौट जानेके लिए नहीं आई हूँ । मैं तुमपर स्नेहका अंचल बिछा दूँगी । तुम्हारी म्रियमान देहमें नई शक्तिका स्रोत बहाऊँगी । एक नये संसारकी सृष्टि करूँगी । हमारे उस लोकमें चलेंगे, विश्वामित्र ? ”

“ हूँ;— ? ”

“ चलेंगे ? बोलो ? इन पाषाणोंपर फिरसे चाँदीका चमकता किरीट चढ़ जायगा । नदियोंपर फिरसे लहरोंकी अटखेलियाँ होने लगेंगी, अपत्र वृक्षोंपर फिरसे पल्लवोंकी उवाच धधक उठेगी । हमारे उस संसारमें मृत्युका प्रवेश नहीं होगा । वहाँ अन्धकारके लिए स्थान नहीं है । असन्तोष, प्रतिहिंसा, द्वेष, घृणा इत्यादि दुर्वासनाओंका उस लोकमें प्रसार नहीं हो सकता ।—चलेंगे ? ”

“ हाँ—चलूँगा । ”

“ देखो—देखो । तुम्हारी इच्छा-मात्रसे हिमालयपर फिरसे हिमराशि इकट्ठी होने लगी । वह सुनो, छोटे-छोटे असंख्यों निझर कल-कल छल-छल करने लगे हैं । नदियाँ यौवनसे भर कर इठलाती हुई सागरकी ओर दौड़ पड़ी हैं । वृक्षोंपर लाल-लाल पल्लव निकल आए । वह सुनो, दूर कहींसे कोयलका आमंत्रण आ रहा है । उठो,—पुरुष ! अस्त्यके इस संसारसे परे हम यथार्थताके क्षितिजकी ओर प्रयाण करें । चलो, विश्वामित्र ! ”

“ चलो, नारी । मैं थक गया हूँ । चूर हो गया हूँ । मुझे सहारा दो । आश्रय दो । प्राण दो । ”











